☆ छेद सुत्ताणि
[कप्पसुत्तं]

☆ सम्पादक एवं व्याख्याकार
आगम अनुयोग प्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'

☆ प्रकाशक
आगम अनुयोग प्रकाशन
सांकलीवास, सांडेराव [राजस्थान]

☆ मूल्य
पन्द्रह रुपया मात्र

☆ प्रथम मुद्रण
वीर निर्वाण संवत् २५०३ दीपमालिका
वि० सं० २०३४, दीपपर्व
ई० सन् १९७७ नवम्बर

☆ मुद्रक
श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स
दरेसी २, आगरा-४

प्रकाशकीय

गतवर्ष 'आचारदशा' जिसका दूसरा नाम दशाश्रुतस्कन्ध है—मूल और सानुवाद का प्रकाशन हुआ। हिन्दी अनुवाद सहित का बड़े साइज में और केवल मूलपाठ का गुटका साइज में। स्वाध्यायशील आगमप्रेमियों ने दोनों संस्करणों को उदारहृदय से अपनाया। हमें यह कल्पना नहीं थी कि बृहत्कल्पसूत्र के प्रकाशन से पूर्व ही आचारदशा की प्रतियां इतनी अल्प रह जायगी और दुष्प्राप्य हो जायगी।

इस वर्ष 'कप्पसुत्तं' जिस का प्रसिद्ध नाम 'बृहत्कल्पसूत्र' है—हिन्दी अनुवाद सहित का बड़े साइज में और केवल मूलपाठ का गुटका साइज में प्रकाशन कर पाये—इसकी हमें अति प्रसन्नता है।

जिन उदार सहयोगी स्वधर्मी-बन्धुओं ने अर्थ-सहयोग प्रदान कर हमें उत्साहित किया—हम उनके हृदय से आभारी हैं।

श्रीमान् श्रीचन्दजी सुराना श्रमशील, साहसी एवं मुद्रणकला निष्णात सज्जन हैं। आपके सत्प्रयत्नों से प्रतिवर्ष विशालकाय अभिनन्दन ग्रन्थ, स्मृतिग्रन्थ, आगम, कथा, काव्य आदि विविध प्रकार का साहित्य नयनाभिराम साज-सज्जा के साथ प्रकाशित होता रहता है, अतएव आप अहर्निश व्यस्त रहते हैं फिर भी आपने 'कप्पसुत्तं' का शुद्ध, सुन्दर एवं कलात्मक मुद्रण करवाकर हमें मानसिक श्रम से मुक्त किया—इसके लिए हम आपके कृतज्ञ हैं।

—सभी स्वधर्मीबन्धुओं के प्रति कृतज्ञ
आगम अनुयोग प्रकाशन के
कार्यकर्त्ता गण

सम्पादकीय

छेदसूत्र कितने

एक पक्ष छेदसूत्रों की संख्या छह मानता है और दूसरा पक्ष चार मानता है।

१. निशीथ, २. महानिशीथ, ३. आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), ४. बृहत्कल्प, ५. व्यवहार, और ६. पंचकल्प[1]—ये छह छेदसूत्र एक पक्ष मानता है और दूसरा पक्ष महानिशीथ तथा पंचकल्प इन दो को छोड़कर शेष चार छेदसूत्र मानता है।

छेदसूत्र नाम क्यों

दस प्रकार के प्रायश्चित्तों में छेदप्रायश्चित्त सातवाँ है।[2] आलोचनार्ह प्रायश्चित्त से छेदार्ह प्रायश्चित्त पर्यन्त सात प्रायश्चित्त होते हैं। ये वेषयुक्त श्रमण को दिये जाते हैं और अन्तिम तीन प्रायश्चित्त वेषमुक्त श्रमण को दिये जाते हैं। वेषयुक्त श्रमण को दिये जाने वाले प्रायश्चित्तों में छेदप्रायश्चित्त अन्तिम प्रायश्चित्त है अतएव इसे प्रमुख माना गया है। इस एक के साथ पूर्व के छह प्रायश्चित्त ग्रहण कर लिए जाते हैं।

मूलार्ह, अनवस्थाप्यार्ह और पारञ्चिकार्ह प्रायश्चित्त वाले अल्प होते हैं और आलोचनार्ह से छेदार्ह पर्यन्त प्रायश्चित्तवाले अधिक होते हैं इसलिए सहस्राम्रवन नाम के समान आयारदशा आदि आगमों का छेदसूत्र नाम दिया गया है।

---

१ अभिधान राजेन्द्र, तृतीय भाग पृष्ठ १३६० पर "छेयग्रन्थ" शब्द।

२ स्थानांग अ० ८ में सूत्र ६०५। अ० ९ में सूत्र ६८८। अ० १० में सूत्र ७३३। दस प्रायश्चित्त के नाम—१. आलोचनार्ह, २. प्रतिक्रमणार्ह, ३. तदुभयार्ह, ४. विवेकार्ह, ५. व्युत्सर्गार्ह, ६. तपोर्ह, ७. छेदार्ह, ८. मूलार्ह, ९. अनवस्थाप्यार्ह, १०. पारंचिकार्ह।

छेदसूत्रों का प्रकाशन उचित या अनुचित ?

आयारदशा की अन्तिमदशा आयतिस्थान के अन्तिमसूत्र में कहा है कि भगवान महावीर ने चतुर्विध संघ और सुर-असुर आदि के सामने छेदसूत्र का प्रकाशन किया था।[3]

भगवान महावीर के निर्वाण से ९ शताब्दी वाद आगमों का लेखन प्रारम्भ हुआ था उस समय छेदसूत्रों का प्रकाशन उपलब्ध सामग्री पर उस समय की प्रचलित लिपि में हुआ था और आज से एक शताब्दी पूर्व आगमों का मुद्रण प्रारम्भ हुआ था तब से छेदसूत्रों का प्रचलित भाषा में अनुवाद सहित प्रकाशन भी हुआ है और वर्तमान में हो रहा है।

छेदसूत्रों के प्रकाशन का समर्थन और विरोध पहले भी था और आज भी है।

छेदसूत्रों का प्रकाशन होने पर ही उनका स्वाध्याय सम्भव है। यदि स्वाध्याय होगा तो उत्सर्ग-अपवाद का ज्ञान होगा और तदनुसार आचरण भी सम्भव हो सकेगा। स्वच्छन्दप्रवृत्तियों पर नियन्त्रण भी छेदसूत्रों के ज्ञाता ही कर सकते हैं। "अन्नाणी किं काही" इस सूक्ति के अनुसार अज्ञानी क्या कर सकता है।

छेदसूत्रों के प्ररूपक और निर्यूहक

छेदसूत्रों के अर्थागम के प्ररूपक सर्वज्ञ भगवन्त हैं और सूत्रागम के निर्यूहक श्रुतकेवली भद्रवाहु हैं।[4]

स्थानांग अ० १० सूत्र ७५५ में आयारदशा के दस अध्ययनों के नाम हैं[5]—आयारदशा का अपर नाम दशाश्रुतस्कन्ध है। यह छेदसूत्र है। स्थानांग तृतीय अंग है इसमें आयारदशा का नाम है।

---

३ तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे नयरे गुणसीलए चेइए वहूणं समणाणं, वहूणं समणीणं, वहूणं सावयाणं, वहूणं सावियाणं, वहूणं देवाणं वहूणं देवीणं, सदेव-मणुया-सुराए परिसाए मज्झगए एवमाइक्खई, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ।

—आयारदसा अ० १० सू० ५४, पृ० १८७

४ तेण भगवया आयारपकप्प दसाकप्प ववहारा य नवमपुव्व-नीसदंभूता निज्जूढा। —पंचकलपभाष्य, गाथा २३

५ आयारदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—१. वीसं असमाहिट्ठा,

समवायांग २६ सूत्र एक में दशा, कल्प और व्यवहार के २६ उद्देशन काल गिनाये हैं—दशा के दश, कल्प के छः और व्यवहार के १० उद्देशन काल हैं। इस प्रकार समवायांग नाम के चतुर्थ अंग में दशा (आचारदशा या दशाश्रुतस्कन्ध) कल्प और व्यवहार के नाम है।[६]

उत्तराध्ययन अ० ३१ गा० १७ में दशा, कल्प और व्यवहार के २६ उद्देशक कहे हैं।[७]

आवश्यक अ० ४ में दशा, कल्प और व्यवहार के २६ उद्देशक कहे हैं।[८]

नन्दिसूत्र के श्रुतज्ञान वर्णन में दशा, कल्प, व्यवहार और निशीथ आदि को कालिकश्रुतों में गिनाया है।[९]

इस प्रकार अंग और अंगबाह्य आगमों में छेदसूत्रों के नाम विद्यमान हैं। अतः यह निर्विवाद है कि वर्तमान में उपलब्ध आगमों के मूलपाठों का संकलन जितना प्राचीन है उतने ही प्राचीन छेदसूत्र हैं।

कप्पसुत्तं से कप्पसुयं भिन्न है

प्रस्तुत "कप्पसुत्तं" (कल्पसूत्र) और "कप्पसुयं" (कल्पश्रुत) एक है या भिन्न है? यह आशंका अप्रासंगिक है, क्योंकि "कप्पसुत्तं" कालिक आगम है।

आचारदशा अर्थात् दशाश्रुतस्कन्ध का आठवाँ अध्ययन "पर्युषणाकल्प" है इसमें केवल वर्षावास की सामाचारी है। कुछ शताब्दियों पहले इस "पर्युषणाकल्प' को तीर्थंकरों के जीवन चरित्र तथा स्थविराली से संयुक्त कर दिया गया था। यह शनैः-शनैः कल्पसूत्र के नाम से जनसाधारण में प्रसिद्ध हो गया। इस कल्पसूत्र से प्रस्तुत कल्पसूत्र का नाम भिन्न दिखाने के लिए प्रस्तुत

---

२. एगवीसं सबला, ३. तेत्तीसं आसायणाओ, ४. अट्ठविहा गणिसंपयाओ, ५. दस चित्तसमाहिट्ठाणा, ६. एगारस उवासगपडिमाओ, ७. बारस भिक्खुपडिमाओ, ८. पज्जोसवणाकप्पो, ९. तीसं मोहणिज्जठाणा, १०. आजा-इट्ठाणं।

६ छव्वीसं दसाकप्प-ववहाराणं उद्देसणकाला पण्णत्ता, तं जहा दस दसाणं छकप्पस्स, दस ववहारस्स। —सम० २६, सू० १

७ "उद्देसेसु दसादीणं"। —उत्त०, अ० ३१, गा० १७—द्वितीयपद

८ छव्वीसाए दसा-कप्प-ववहाराणं उद्देसणकालेहिं। —आव०अ० ४, सू० २६

९ से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—उत्तरज्झयणाइं दसाओ कप्पो ववहारो निसीहं····।

कल्पसूत्र का नाम वृहत्कल्पसूत्र दिया गया है। वास्तव में वृहकल्पसूत्र नाम के आगम का किसी आगम में उल्लेख नहीं है। नन्दीसूत्र में इसका नाम "कप्पो" है।

कप्पसुयं के दो विभाग हैं "चुल्लकप्पसुयं" और "महाकप्पसुयं"। इसी प्रकार "कप्पियाकप्पियं" भी उत्कालिक आगम है।[१०] ये सब प्रायश्चित्त विधायक आगम हैं; पर, ये विच्छिन्न हो गये हैं ऐसा जैनसाहित्य के इतिहासज्ञों का अभिमत है।

कल्प वर्गीकरण

प्रस्तुत "कप्पसुत्तं" का मूल गद्यपाठ है और ४७३ अनुष्टुप श्लोक प्रमाण है। इसमें ८१ विधि-निषेध कल्प हैं। ये सभी कल्प पाँच समिति और पाँच महाव्रतों से सम्बन्वित हैं अतः इनका वर्गीकरण यहाँ किया गया है। जिन सूत्रों का एक से अधिक समितियों या एक से अधिक महाव्रतों से सम्बन्ध है, उनका स्थान समिति और महाव्रत के संयुक्त विधि-निषेध और महाव्रतकल्प शीर्षक के अन्तर्गत है।

उत्तराध्ययन अ० २४ के अनुसार ईर्यासमिति का विषय बहुत व्यापक है इसलिए जो सूत्र सामान्यतया ज्ञान-दर्शन या चारित्र आदि से सम्बन्धित प्रतीत हुए हैं, उनको "ईर्यासमिति के विधि-निषेधकल्प" शीर्षक के नीचे स्थान दिया है।

क्रमांक	वर्गीकरण	उद्देशकांक	सूत्रांक	पृष्ठांक
(१)	ईर्यासमिति के विधि-निषेध कल्प—			
१.	चारसूत्र	१	३७-३८	२१-२२
२.	अध्वगमनसूत्र	१	४६	३१-३२
३.	आर्यक्षेत्रसूत्र	१	५२	३४-३५
४.	महानदीसूत्र	४	३४-३५	१३०-१३२
५.	वैराज्य-विरुद्ध राज्यसूत्र	१	३९	२२-२४
६.	अन्तरगृहस्थान सूत्र	३	२१	८२-८३
७.	वाचनासूत्र	४	१०-११	१०३-१०५
८.	संज्ञाप्यसूत्र	४	१२-१३	१०५-१०६

१० अभिधान राजेन्द्र : भाग तृतीय; पृष्ठ २३९ पर "कप्पसुयं" शब्द का विवेचन।

११ उपाश्रय विधि-निषेधकल्प के जितने सूत्र हैं वे प्रायः चतुर्थ महाव्रत के विधि-निषेध-कल्प भी हैं।

क्रमांक	वर्गीकरण	उद्देशांक	सूत्रांक	पृष्ठांक
७२.	पारान्चिकसूत्र	४	२	९९-१००
७३.	कण्टकादि उद्धरणसूत्र	६	३-६	१६३-
७४.	दुर्गसूत्र	६	७-९	१६५-
७५.	क्षिप्तचित्तादिसूत्र	६	१०-१८	१६६-
	तपकल्प[१२]			
७६.	कृतिकर्मसूत्र	३	२०	८१- ८२
७७.	ग्लानसूत्र	४	१४-१५	१०६-१०७
७८.	पारिहारिकसूत्र	४	३१-३३	१२८-१३०
७९.	व्यवहारसूत्र	५	५१	१५८-
	मरणोत्तरविधि			
८०.	विष्वग्भवनसूत्र	४	२९	१२५-१२६
	महाव्रत और समिति के संयुक्तकल्प			
८१.	परिमन्थसूत्र	६	१९	१६८

इस वर्गीकरण से प्रत्येक विज्ञपाठक इस आगम की उपादेयता समझ सकते हैं। श्रामण्य जीवन के लिए ये विधि-निषेधकल्प कितने महत्वपूर्ण हैं। इनके स्वाध्याय एवं चिन्तन-मनन से ही पंचाचार का यथार्थ पालन सम्भव है। यह आगमज्ञों का अभिमत है। तथा इन विधि-निषेधकल्पों के ज्ञाता ही कल्प विपरीत आचरण से निवारण करने में समर्थ हो सकेंगे यह स्वतः सिद्ध है।

अपवाद भी मार्ग है, उन्मार्ग नहीं

पुस्तक आगम का हो या अन्य—उसका रखना उत्सर्ग मार्ग नहीं है—यह एक तथ्य है।

आचारांग और निशीथ में पुस्तककर्म देखने मात्र का निषेध है और देखे तो उसके लिए प्रायश्चित्त का विधानं है। यह पुस्तककर्म पुस्तक लिखना ही है या और कुछ? यह भी अन्वेषणीय है।

फिर भी अर्थापत्तिन्याय से ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमण स्वयं लिखते

---

१२ विनय, वैयावृत्य और प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तपों का विधान करने वाले ये सूत्र हैं

थे—क्योंकि निशीथ में जो लिखने के प्रायश्चित्त का विधान है वह केवल स्त्री को विषय-विकारवर्धक पत्र लिखने का है। अन्य किसी प्रकार के लेखन का प्रायश्चित्त विधान नहीं है। इसलिए श्रमण भी लिखते थे—यह सिद्ध हो जाता है। यदि श्रमण स्वयं लिखते थे तो आगम ही लिखते होंगे—और तो उन्हें लिखना ही क्या था। सभी श्रमणों की स्मरणशक्ति और धारणाशक्ति समान तो किसी युग में रही नहीं और रहेगी भी नहीं। इसलिए विशेष ज्ञानियों को भले ही आगम-पुस्तकों की अपेक्षा नहीं रही होगी, पर सामान्य अभ्यासियों के लिए तो पुस्तक की आवश्यकता सदा रही हैं और रहेगी।

जिस प्रकार जिनकल्पी उपधि का परित्याग कर देते थे और स्थविर-कल्पी रखते थे इसी प्रकार विशिष्ट ज्ञानी पुस्तक नहीं रखते होंगे और अल्पज्ञ पुस्तक रखते होंगे। यह एक अनुमान है, वास्तव में क्या स्थिति थी—यह जानने का साधन हमारे पास नहीं है।

भाष्यकार—पुस्तक लिखने और रखने के उग्र विरोधी हैं :

भाष्यकार ने पांच प्रकार के पुस्तक बताये हैं और पुस्तक रखने से होने वाली हानियां भी।

१. गण्डी पुस्तक
२. कच्छपी पुस्तक
३. मुष्टी पुस्तक
४. सम्पुटफलक पुस्तक
५. छेदपाटी पुस्तक[13]

पुस्तक रखने से होने वाली हानियां

१. संघर्ष—पुस्तक का भार लेकर चलने से कन्धे को पीड़ा होती है, अति-भार से व्रण भी हो सकता है।
२. अप्रतिलेखन—सजिल्द पुस्तक का प्रतिलेखन तो सम्भव ही नहीं है और अजिल्द पुस्तक के एक-एक पत्र को प्रतिदिन देखना शक्य नहीं है, क्योंकि इतना समय प्रतिलेखन में लगाना प्रतिदिन और वह भी उभय-काल कैसे सम्भव है।

---

१३ गण्डी कच्छवि मुट्ठी, छिवाडी संपुडग पोत्थगा पंच।
—बृहत्कल्प भाष्य, भाग ४ गाथा ३८२२।

३. भार—पुस्तकों में भार होता ही है और उन्हें लेकर चलने में भार भी लगता है।

४. अधिकरण—पुस्तकें कुंथुवे आदि छोटे जीवों की हिंसा का निमित्त बनती हैं, चुराई भी जाती है। अतः हिंसा के साधन हैं।

५. अविदीर्ण—तीर्थंकरों ने श्रमण की उपधियों में पुस्तक का नाम नहीं गिनाया है इसलिए यह अदत्त उपधि है।

६. संक्रामण—पुस्तक को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते समय संयम का परिमन्थ अर्थात् नाश होता है।

७. प्रमाद—'पुस्तक में लिखा है जब आवश्यकता होगी तब देख लूंगा—ऐसा सोचकर शास्त्र का स्वाध्याय करने में प्रमाद करता है।

८. परिकर्म—पुस्तक की साज-सज्जा में सूत्रार्थ का चिन्तन नहीं हो पाता।

९. लेखन—पुस्तक लिखते समय गीली स्याही पर सूक्ष्म जीव चिपककर मर जाते हैं। इत्यादि।[14]

पुस्तक से होने वाली हिंसा के चार उदाहरण

१. चारों ओर शिकारियों से घिरा हुआ मृग दैवयोग से बचकर निकल सकता है किन्तु पुस्तक के पृष्ठों के बीच में दबा हुआ प्राणी किसी प्रकार बच नहीं सकता।

२. तेल-घृत-दूध आदि में गिरे हुए मक्खी आदि प्राणी निकल सकते हैं किन्तु पुस्तक के पृष्ठों के बीच में दबा हुआ प्राणी किसी प्रकार बच नहीं सकता।

३. जाल में फँसे हुए मत्स्य आदि दैवयोग से बचकर निकल सकते हैं किन्तु पुस्तक के पृष्ठों के बीच में दबा हुआ प्राणी किसी प्रकार बच नहीं सकता।

४. तिलों के साथ गिरे हुए तिलकीट घानी में से दैवयोग से बचकर निकल सकते हैं किन्तु पुस्तक के पृष्ठों के बीच में दबा हुआ प्राणी किसी प्रकार बच नहीं सकता।

५. पुस्तक के पृष्ठों के बीच दबे हुए प्राणियों के कलेवर अक्षरों पर चिपक जाते हैं और उनके रक्त से अक्षर लिप्त हो जाते हैं।

---

१४ संघंस अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिण्णं।
संकामण पलिमंथो, पमाय परिकम्मणा लिहणा॥

—बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४

प्रायश्चित्त विधान

भिक्षु या भिक्षुणी पुस्तक को जितनी वार खोले या वन्द करे तथा जितने अक्षर लिखे उतने ही चार लघु के प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।[१५]

पुस्तक से होने वाली प्रत्यक्ष हिंसा तथा सम्बन्धित अनेक दोषों व प्रायश्चित्त विधानों से मुमुक्षु आत्माओं ने पुस्तक लेखन-पठन-संरक्षण आदि का सर्वथा परित्याग कर दिया। गुरु से शिष्यों ने गणिपिटक सुना, शिष्य जब गुरु बने तो उन्होंने अपने-अपने शिष्यों को सुनाया। इस प्रकार अविच्छिन्न श्रुत-परम्परा चलती रही। क्रमशः युग बदला, साथ ही स्मृति दौर्बल्य भी बढ़ता गया। अनेक आगम विच्छिन्न हो गए—इस प्रकार श्रुत का उत्तरोत्तर ह्रास देखकर देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने अपवाद मार्ग अपनाकर वल्लभिपुर में अपने सान्निध्य में आगम लिपिबद्ध करवाये। यह एक ऐतिहासिक सत्य है।

ज्ञान भण्डारों में यति-मुनियों के लिखे हुए आगमों की हजारों प्रतियाँ विद्यमान है—इसलिए लिखना और पुस्तक रखना अपवाद मार्ग है, उन्मार्ग नहीं।

युग वदला....मान्यतायें वदली

जिनागम लिखने का फल—

जिनागमों का लेखक—

१. दुर्गति में नहीं जाता,

२. मूक-वधिर नहीं होता,

---

१५ पोत्थग जिण दिट्ठन्तो, वग्गुर लेवे य जाल चक्के य।
लोहित लहुगा आणादि, मुयण संघट्टणा बन्धे॥
चउरंग वग्गुरा परिवुडो वि, फिट्टेज्ज अवि मिगो रण्णे।
छीर खउर लेवे वा, पडिओ सउणो पलाएज्जा॥
सिद्धत्थग जालेण वा, गहितो मच्छो वि णिप्फिडेज्जाहि।
तिलकीडगा व चक्के, तिलावणयते ततो जीवा॥
जइ तेसिं जीवाणं, तत्थगयाणं तु लोहियं होज्जा।
पीलिज्जंते धणियं, गलेज्ज तं अक्खरे फुसितं॥
जतियमेत्ता वारा, उ मुंचई बंधई व जति वारा।
जति अक्खराणि लिहति व, तति लहुगा जं च आवज्जे॥
—बृहत्कल्पभाष्य, भाग ४, पृष्ठ १०५५-१०५६

३. मूर्ख नहीं होता,

४. अन्धा नहीं होता।[१६]

जो जिनागम की पुस्तक का दान करता है वह सर्वविद् होता है।[१७]

जो भक्तिभावपूर्वक जिनागम लिखता है वह दिव्यसुख या शिवसुख प्राप्त होता है।[१८]

इन मान्यताओं से प्रभावित इस युग में पुस्तक लेखन-संरक्षण तथा पठन-पाठन की उत्तरोत्तर प्रगति हुई है।

कप्पसुत्तं का यह संस्करण भी इसी उपक्रम का एक अंग है।

मुनिश्री मिश्रीमलजी 'मुमुक्षु', मनिश्री चाँदमलजी, मुनिश्री रोशनलालजी 'सिद्धान्त शास्त्री' ने तथा श्री विनय मुनि ने प्रार्थना, व्याख्यान एवं अनेक सेवा कार्य किये जिससे मैं लेखन कार्य के लिए अधिक से अधिक समय प्राप्त कर सका। देव-गुरु-धर्म के प्रसाद इन सबकी रत्नत्रयाराधना सफल हो—यही एक मात्र शुभकामना है।

कप्पसुत्तं के लेखन-सम्पादन में पं० दलसुखभाई मालवणिया आदि ने संशोधन-संवर्धन में अमूल्य सुझाव दिये हैं वे मेरे लिए अविस्मरणीय एवं चिर-स्मरणीय है।

—मुनि कन्हैयालाल 'कमल'

१६ न ते नरा दुर्गतिमाप्नुवंति, न मूकतां नैव जडस्वभावम्।
न चान्धता बुद्धिविहीनता च, ये लेखयन्तीह जिनस्य वाणी॥

१७ पठति पाठयते पठतामसौ, वसन-भोजन-पुस्तकवस्तुभिः।
प्रतिदिनं कुरुते य उपग्रहं, स इह सर्वविदेव भवेन्नरः॥

१८ ये लेखयन्ति जिनशासनपुस्तकानि,
व्याख्यानयन्ति च पठन्ति च पाठयन्ति।
शृण्वन्ति रक्षणविधौ च समाद्रियन्ते,
ते मर्त्यदेव शिवशर्म नरा लभन्ते॥

—पोत्थग शब्द—अभिधानराजेन्द्र भाग ५ पृष्ठ ११२२

बृहत्कल्पसूत्र की उत्थानिका

☐ उपाध्याय मुनिश्री फूलचन्दजी 'श्रमण'

कल्प शब्द अनेक अर्थों का बोधक है, इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। वेद के छः अंग हैं—उनमें एक वह अंग है जिसमें यज्ञ आदि कर्म काण्डों का विधान है वह अंग कल्प कहलाता है।

कालमान के लिए भी कल्प शब्द का प्रयोग मिलता है। चौदह मन्वन्तरों का कालमान कल्प शब्द से जाना जाता है। उसमें चार अरब, बत्तीस करोड़ वर्ष वीत जाते हैं। इतने लम्बे काल की संज्ञा कल्प है।

सदृश अर्थ में भी कल्प शब्द का प्रयोग किया जाता है जैसे कि 'श्रमण-कल्प', ऋषिकल्प इत्यादि।

कल्प शब्द उस वृक्ष के लिए भी प्रयुक्त होता है जो वृक्ष मनोवांच्छित फल देने वाला है, वह कल्पवृक्ष कहलाता है।

राज्य-मर्यादा के लिए भी कल्प शब्द का प्रयोग किया जाता है। वारहवें देवलोक तक राजनीति की मर्यादा है। इसी कारण उन देवलोकों को कल्प देवलोक कहा जाता है। मर्यादा एवं वैधानिकरीति से जो भी कोई जीवन चलाता है, वह अवश्य ही सुख और सम्पत्ति से समृद्ध वन जाता है। प्रस्तुत शास्त्र का नाम जिस कल्प शब्द से चरितार्थ किया है वह उपर्युक्त अर्थों से विल्कुल भिन्न है।

कल्प शब्द की सार्थकता

प्रस्तुत प्रसंग में कल्प शब्द का अर्थ धर्म-मर्यादा है। साधु-आचार ही धर्म-मर्यादा है। जिस शास्त्र में धर्म-मर्यादा का वर्णन हो वह कल्प है, नाम विपया-नुरूप ही है। जिस शास्त्र का जैसा विषय हो वैसा नाम रखना यथार्थ नाम कहलाता है। साधु धर्म के आन्तरिक और वाह्य-आचार का निर्देश एवं मर्यादा वतलाने वाला शास्त्र कल्प कहलाता है।

जिस सूत्र में भगवान महावीर, पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि और ऋषभदेव का जीवन वृत्त है, उस शास्त्र के अन्तिम प्रकरण में साधु-समाचारी का वर्णन है।

वह पर्युषणाकल्प होने से लघु कल्प है। उसकी अपेक्षा से जिसमें साधु-मर्यादा का वर्णन विस्तृत हो, वह बृहत्कल्प कहलाता है। इसमें सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि इन तीन चारित्रों का सामान्य रूप से विधि-विधानों का वर्णन है। बृहत्कल्प शास्त्र में जो भी वर्णन है उन सबका पालन करना उक्त चारित्रशीलों के लिए अवश्यंभावी है। विविध सूत्रों द्वारा साधु साध्वी की विविध मर्यादाओं का जिसमें वर्णन किया गया है, उसे बृहत्कल्प सूत्र कहते हैं। प्राकृत भाषा में विहक्कप्पसुत्तं रूप बनता है।

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म

निश्चय और व्यवहार ये—दोनों एक दूसरे के पूरक एवं पोषक हैं। निश्चय सम्यक् होने से व्यवहार भी सम्यक् होता है निश्चय के बिना केवल व्यवहार व्यवहाराभास ही है। यदि व्यवहार को धर्म का शरीर कहा जाए तो निश्चय धर्म की आत्मा है। निश्चय धर्म निवृत्ति-प्रधान है जबकि व्यवहार धर्म प्रवृत्ति-प्रधान, इनको क्रमशः आन्तरिक आचरण और बाह्य-आचरण भी कहा जा सकता है। शरीर के भीतरी भाग में रक्त संचार, फेफड़ों में प्रकम्पन हृदय में गति इत्यादि क्रियाएँ जीवन के लिए जैसे आवश्यकीय हैं, वैसे ही शरीर के बाह्य भाग में त्वचा भी शरीर की रक्षा के लिए आवश्यकीय है। उसके बिना भी जीवन रहना असम्भव है। प्रस्तुत सूत्र में दोनों का सम्मान संतुलित रखा गया है। निश्चयधर्म व्यक्तिगत है और व्यवहारधर्म लोक-कल्याण में सहयोग देता है। दोनों में से किसी एक को मानना और दूसरे का निषेध करना वह एकान्तवाद है। एकान्तवाद केवल मिथ्यात्व है।

उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग

जिन नियमों का पालन करना सभी साधुओं और साध्वियों के लिए अनिवार्य है अथवा बिना किसी भेदभाव के सभी साधकों के लिए समान रूप से जिस समाचारी का पालन करना अवश्यंभावी है, शास्त्रीय एवं श्रमण संघीय समाचारी का पालन प्रामाणिकता से करना उत्सर्ग-मार्ग है। इस मार्ग में प्रगति करने वाला साधक प्रशंसनीय एवं श्रद्धेय बनता है। अनुशासन के पालन में सदैव सतर्क रहना ही इसकी उपयोगिता है। निर्दोष चारित्र की आराधना करना ही इस मार्ग की विशिष्टता है। सर्वआराधक इसी मार्ग पर चलने से बनता है। इस मार्ग में अप्रमत्तता बनी रहती है। अपवाद का अर्थ इस प्रसंग में विशेष विधि है। वह दो प्रकार की होती हैं—निर्दोष-विशेष विधि और सदोष-विशेष विधि। सामान्य विधि से विशेष विधि बलवान होती

है। आपवादिक स्थिति सकारण होती है । उत्तरगुण पच्चक्खाण में जो आगार रखे जाते हैं वे सब निर्दोष अपवाद हैं । वर्षावास में संयमी को ग्रामानुग्राम विचरना कल्पता नहीं, किन्तु दस कारणों से वर्षावास में भी विहार करता हुआ आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता। इसप्रकार की वर्णन शैली आगम के जिस-जिस स्थल में उपलब्ध हो, वह निर्दोष अपवाद है। आज्ञा में धर्म हैं, जिस क्रिया से आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता वह निर्दोष है । आकस्मिक एवं प्रबल कारण की उपस्थिति में शरीर की असमर्थता से, वार्धक्य रुग्णता, दुर्भिक्ष, क्षतिग्रस्तता आदि कारण से मन न होते हुए भी विवश होकर जिस दोष का सेवन हो जाय या किया जाय वह सदोष अपवाद है। प्रायश्चित्त द्वारा उसकी विशुद्धि हो जाती है । यह मार्ग चारित्रात्मा को आर्त एवं रौद्र ध्यान से बचाता है । वह मार्ग प्रशंसनीय तो नहीं है किन्तु इतना निन्दनीय भी नहीं है । दान्तों के अन्तराल में तिनका आदि फँस जाने से जैसे जिह्वा को चैन नहीं पड़ती, वैसे ही यदि अपवाद का कभी सेवन हो जाए तो झट प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धीकरण कर लेता हैं । उसके लिए कोई भी दोष सह्य नहीं होता ।

अपनी इच्छा से मर्यादा का अतिक्रमण करना, शास्ता की आज्ञा में न विचरना, बनाव में रुचि रखना, अपने स्वार्थों को मुख्य रखकर श्रीसंघ की अवहेलना करना, उद्दण्डता में विश्वास रखना स्वच्छन्दता है । जिन की प्रवृत्ति अनुशासन में नहीं वह स्वच्छन्द कहलाता है । स्वच्छन्दता अपवाद मार्ग नहीं है । वह अकल्पनीय को कल्पनीय, सचित्त को अचित और अनेषणीय को एषणीय मानकर चलता है । स्वच्छन्दों के लिए सुगति और आराधकता दुर्लभ है । उसकी मनोभूमिका आचार्य से प्रायश्चित्त करने के लिए कभी तैयार नहीं होती ।

कालिक श्रुत और छेदसूत्र

जिसका अध्ययन और अध्यापन अनध्याय काल को वर्जकर दिन के पहले और चौथे पहर में तथा रात्रि के पहले और चौथे पहर में किया जाय वह कालिक श्रुत है । केवलज्ञानी और श्रुतकेवली की वाणी आध्यात्मिक होने से शेष आचार्यों की वाणी उत्कालिक श्रुत में गर्भित हो जाती है । प्रतिपूर्ण दस पूर्वधरों से लेकर यावत् चौदह पूर्वधरों तक सभी श्रुत केवली माने जाते हैं । श्रुतज्ञान के बल से उपयोग पूर्वक केवलज्ञानी के समान कहने वाले सभी श्रुत केवली हैं । इस दृष्टि से वृहत्कल्पसूत्र का विषय चारित्र का पोषक एवं

संवर्धक है। अतः प्रस्तुत सूत्र का समावेश कालिकश्रुत में गर्भित होता है। क्योंकि इसका प्रणयन श्रुतकेवली के द्वारा हुआ है। दीक्षापर्याय का छेद करना ही छेद प्रायश्चित्त कहलाता है।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इस पाठ से जिस-जिस अकरणीय जोग का निषेध किया है उस-उस के सेवन करने से छेद प्रायश्चित्त समझना चाहिए। छेद प्रायश्चित्त एक दिन से लेकर अधिक से अधिक छः ऋतुमास का दिया जा सकता है। दोष कम और प्रायश्चित्त अधिक देना, अन्याय है। दोष बहुत बड़ा, प्रायश्चित्त कम देने से संयम की विशुद्धि नहीं होती, समाज में फैला हुआ दूषित वातावरण शान्त नहीं होता। न्याय अहिंसा है और अन्याय पाप है। अतः प्रायश्चित्त देने वाला छेदसूत्रों का विशेषज्ञ हो, दूसरे के भावों का वेत्ता हो, तटस्थ हो, स्वयं निर्दोष हो तथा वरिष्ट मुनिवर हो वह उच्चसाधक दोषी को निर्दोष बना सकता है।

बृहत्कल्पसूत्र का रचयिता कौन ?

इस सन्दर्भ में कतिपय विद्वानों का अभिमत है—भद्रबाहु स्वामी इस सूत्र के रचयिता हुए हैं। भद्रबाहु नाम के अनेक मुनिवर हुए हैं, उनमें से यदि हमें स्थूलभद्र मुनिवर को पूर्वगत श्रुतज्ञान सिखाने वाले श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी को इस सूत्र के रचयिता मानने में कोई आपत्ति नहीं, वे श्रुतकेवली थे, उनका उपयोग पूर्वक कहा हुआ वचन भी केवली की तरह यथार्थ होता है। उनका प्रणीत आगम भी प्रामाणिक माना जाता है। यदि अन्य किसी भद्रबाहु ने अंग प्रविष्ट शास्त्रों से या पूर्वगत श्रुतज्ञान से उपयोगी अंशों का चयन एवं संकलन किया तो यह धारणा या मान्यता भी जैन जगत को सर्वथा निःसंदेह मान्य है।

प्रस्तुत शास्त्र का आन्तरिक परिचय

बृहत्कल्प सूत्र छः भागों में विभक्त है, उसके प्रत्येक भाग को उद्देशक कहते हैं। उद्देशक शब्द का प्रयोग केवल आगम साहित्य में ही मिलता है। इसका प्रयोग प्रकरण अर्थ में भी किया जाता है। प्राचीन युग में मध्यम मस्तिष्क वाले शिष्य को एक दिन में आचार्य जितना पाठ दिया करते थे वह उद्देशक कहलाता है। सूत्रों के मूलपाठ का अध्यापन उद्देशक शब्द को चरितार्थ करता है। प्रस्तुत सूत्र में ८१ अधिकार हैं। सूत्र संख्या २०६ है। मूलपाठ लगभग ४७३ श्लोक प्रमाण है। उद्देशकों में सूत्र संख्या इस प्रकार है।

उद्देशक	१	२	३	४	५	६
सूत्र संख्या	५२	३०	३१	३५	५२	२०

अर्धमागधी भाषा

सूत्र कर्त्ता ने बृहत्कल्प सूत्र की रचना अर्धमागधी भाषा में की है। वह भी गद्य में। उन्होंने शिष्यों को शब्दाडम्बर में उलझाने का प्रयास नहीं किया। साधु एवं साध्वियों का आचार व्यवहार कैसा होना चाहिए ? उन सब बातों एव कर्तव्यों का वर्णन ८१ इक्यासी अधिकारों में उपलब्ध है। क्योंकि श्रमण निर्ग्रन्थ समाज के अग्रगण्य होते हैं। उनकी भाषा शास्त्रपूत एवं मधुर होना चाहिए, उनका अनुशासन जीवन जितना उत्तम एवं आदर्श होगा उतना ही अच्छा प्रभाव अनुयायी वर्ग पर पड़ता है। इसी लक्ष्य को लेकर शास्त्रकार ने साधक को विधि रूप आज्ञा से और निषेध रूप आज्ञा से आराधक बनने का ज्ञान कराया है।

विद्वज्जगत में प्रस्तुतसूत्र की उपयोगिता

बृहत्कल्प सूत्र की उपयोगिता कितनी है ? इस सन्दर्भ में संयमपरायण विद्यावारिधि मुनिवर ही जानते हैं, अन्य नहीं। इस शास्त्र की विषय गहनता को जब जैसा समझा, विद्वान् मुनिवरों ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार विवेचना प्रारम्भ की। आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्ति की रचना की, संघदासगणी क्षमाश्रमण ने लघु भाष्य का प्रणयन किया, आचार्य मलयगिरि ने पीठिका वृत्ति तैयार की, आचार्य क्षेमकीर्ति ने शेषवृत्ति लिखी है। इस युग में भी ये कृतियाँ मिलती हैं। शिष्यों की विशेष जानकारी के लिए उक्त आचार्यों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार विषय की अभिव्यक्ति करने में कोई कमी नहीं रहने दी।

अनुवादक और संपादक का परिचय

बृहत्कल्प सूत्र का हिन्दी अनुवाद सबसे पहले पूज्य अमोलक ऋषिजी महाराज ने किया किन्तु वह अनुवाद आज के युग में सन्तोषजनक नहीं रहा। अनुयोगप्रवर्त्तक संस्कृत-प्राकृत के प्रकाण्डविद्वान पण्डितरत्न मुनिश्री कन्हैयालालजी 'कमल' ने जो शब्दानुलक्षी अनुवाद और सम्पादन किया, यह कार्य विशेष प्रशंसनीय है। आपकी प्रवृत्ति आगमों के लेखन प्रकाशन में अधिक रहती है। उसी आगम ज्ञान के अनेक छोटे बड़े पुष्प देखने को मिले, उनमें से एक नवीन पुष्प जिज्ञासुओं के करकमल को सुशोभित कर रहा है। यह सूत्र पठनीय, मननीय एवं संग्रहणीय है। ☆

अनुक्रमणिका

उद्देशक-सूची

बृहत्कल्पसूत्र विषय-सूची

प्रथम उद्देशक

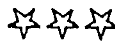
द्वितीय उद्देशक

तृतीय उद्देशक

चतुर्थ उद्देशक

पंचम उद्देशक

षष्ठ उद्देशक



चरिमसयलसुयणाणि-थविर-भद्दबाहु-पणीयं

कप्पसुत्तं

पढमो उद्देसओ

प्रलम्बसूत्र प्रकृतम्

सूत्र १

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
आमे ताल-पलम्बे अभिन्ने पडिग्गाहित्तए ॥१॥

प्रथम उद्देशक

प्रलम्ब प्रकरण

निर्ग्रन्थ—साधुओं को और निर्ग्रन्थी—साध्वियों को अभिन्न (शस्त्र-अपरिणत) आम (अपक्व) ताल-प्रलम्ब (ताड़वृक्ष का फल) ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
आमे ताल-पलम्बे भिन्ने पडिग्गाहित्तए ॥२॥

किन्तु निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को भिन्न (शस्त्र-परिणत) आम ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—सूत्र पठित 'ताल-प्रलम्ब' पद सभी फलों का सूचक है। "एक के ग्रहण करने पर सभी सजातीय ग्रहण कर लिए जाते हैं"—इस न्याय के अनुसार 'ताल-प्रलम्ब' पद से 'ताल-फल' के अतिरिक्त केला, आम, अनार आदि फल भी ग्रहण करना अभीष्ट है।

इसी प्रकार 'प्रलम्ब' पद को अन्तःदीपक मानकर मूल, कन्द, स्कन्ध आदि भी ग्रहण किये गये हैं।

यहाँ 'आम' पद का अपक्व और अभिन्न पद का शस्त्र-अपरिणत अर्थ अभीष्ट है।

जो फल पककर वृक्ष से स्वयं नीचे गिर पड़ता है अथवा पक जाने पर वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, उसे पक्व कहते हैं। वह पक्व फल भी सचित्त—सजीव वीज, गुठली आदि से संयुक्त होता है। अतः उसे जव शस्त्र से विदारित कर, गुठली आदि को दूरकर या जिसमें अनेक वीज हैं उसे अग्नि आदि में पकाकर, उवालकर या भूनकर सर्वथा असंदिग्ध रूप से अचित्त-निर्जीव कर लिया जाता है तव वह 'भिन्न' शस्त्र-परिणत कहा जाता है।

इससे विपरीत—अर्थात् छेदन-भेदन किये जाने पर या अग्नि आदि में पकाने पर भी अर्द्धपक्व होने की दशा में उसके सचित्त रहने की सम्भावना हो तो वह 'अभिन्न' शस्त्र-अपरिणत कहा जाता है।

इन दोनों सूत्रों का संयुक्त अर्थ यह होता है कि साधु और साध्वी अपक्व और शस्त्र-अपरिणत मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वक्, शाल, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और वीज को ग्रहण नहीं कर सकते हैं। किन्तु विशेष कारण उपस्थित होने पर यदि गृहस्थ द्वारा शस्त्र-परिणत अपक्व मूल, कन्दादि भी दिये जावें तो साधु और साध्वी ग्रहण कर सकते हैं।

सूत्र ३

कप्पइ निग्गंथाणं,

पक्के ताल-पलम्बे भिन्ने वा अभिन्ने वा पडिग्गाहित्तए ॥३॥

निर्ग्रन्थों को भिन्न— खण्ड-खण्ड किया हुआ या अभिन्न—अखण्ड पक्व ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है।

सूत्र ४

नो कप्पइ निग्गंथीणं

पक्के ताल-पलम्बे अभिन्ने पडिग्गाहित्तए ॥४॥

निर्ग्रन्थियों को अभिन्न—अखण्ड पक्व ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ५

कप्पइ निग्गंथीणं

पक्के ताल-पलम्बे भिन्ने पडिग्गाहित्तए;

से वि य विहिभिन्ने,
नो चेव णं अविहिभिन्ने ॥५॥

किन्तु निर्ग्रन्थियों को भिन्न—खण्ड-खण्ड किया हुआ पक्व ताल-प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है। वह भी विधिपूर्वक भिन्न—खण्ड-खण्डकृत ग्रहण करना कल्पता है। अविधि-भिन्न ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—अभिन्न—अखण्ड केला आदि फल का लम्बा आकार देखकर निर्ग्रन्थी के मन में विकार भाव जागृत हो सकता है और वह उससे अनंग-क्रीड़ा भी कर सकती है। जिससे उसके संयम और स्वास्थ्य की हानि होना सुनिश्चित है। अतः निर्ग्रन्थी को अभिन्न फल लेने का निषेध किया गया है—साथ ही अविधिपूर्वक भिन्न—कदली आदि के ऐसे लम्बे खण्ड जिन्हें देखकर कामवासना का जागृत होना सम्भव हो—फल लेने का भी निषेध किया गया है। किन्तु भिन्न—खण्ड-खण्डकृत और वह भी विधिपूर्वक भिन्न—कदली आदि फल इतने छोटे-छोटे खण्ड किए जावें, जिन्हें देखकर पूर्वोक्त विकार भाव जागृत न हो तो ऐसा फलग्रहण कर सकती हैं।

इस विषय से सम्बन्धित विशेष वर्णन भाष्य-निर्युक्ति और वृत्ति में किया गया है।

मासकल्पप्रकृतम्

सूत्र ६

से गामंसि वा, नयरंसि वा, खेडंसि वा, कब्बडंसि वा,
मडंबंसि वा, पट्टणंसि वा, आगरंसि वा, दोणमुहंसि वा,
निगमंसि वा, आसमंसि वा, सन्निवेसंसि वा, संवाहंसि वा,
घोसंसि वा, अंसियंसि वा, पुडभेयणंसि वा, रायहाणिंसि वा,
सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि,
कप्पइ निग्गंथाणं हेमन्त-गिम्हासु एगं मासं वत्थए ॥६॥

मासकल्प प्रकरण

निर्ग्रन्थों को सपरिक्षेप और अबाहिरिक ग्राम नगर, खेट, कर्बट, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, आश्रम, निवेश (संनिवेश), सम्बाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन और राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में एक मास तक वसना कल्पता है।

सूत्र ७

से गामंसि वा जाव—रायहाणिंसि वा,
सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि,
कप्पइ निग्गंथाणं हेमन्त-गिम्हासु दो मासे वत्थए;
अन्तो एगं मासं, बाहिं एगं मासं।
अन्तो वसमाणाणं अन्तो भिक्खायरिया,
बाहिं वसमाणाणं बाहिं भिक्खायरिया ॥७॥

निर्ग्रन्थों को सपरिक्षेप और सबाहिरिक ग्राम-यावत्-राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में दो मास तक वसना कल्पता है।

एक मास ग्राम आदि के अन्दर और एक मास ग्रामादि के बाहर।

ग्राम आदि के अन्दर वसने वाले निर्ग्रन्थों को ग्राम आदि के अन्दर बसे घरों में भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

ग्राम आदि के बाहर वसने वाले निर्ग्रन्थों को ग्राम आदि के बाहर बसे घरों में भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

सूत्र ८

से गामंसि वा जाव—रायहाणिंसि वा,
सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि,
कप्पइ निग्गंथीणं हेमंत-गिम्हासु दो मासे वत्थए ॥८॥

निर्ग्रन्थियों को सपरिक्षेप और अबाहिरिक ग्राम-यावत्-राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में दो मास तक वसना कल्पता है।

सूत्र ९

से गामंसि वा जाव—रायहाणिंसि वा
सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि,
कप्पइ निग्गंथीणं हेमन्त-गिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए।
अन्तो दो मासे, बाहिं दो मासे।
अन्तो वसमाणीणं[1] अन्तो भिक्खायरिया,
बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ॥९॥

---

१ वसन्तीणं।

निर्ग्रन्थियों को सपरिक्षेप और सवाहिरिक ग्राम-यावत्-राजधानी में हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में चार मास तक वसना कल्पता है।

दो मास ग्राम आदि के अन्दर और दो मास ग्राम आदि के वाहर।

ग्राम आदि के अन्दर वसने वाली निर्ग्रन्थियों को ग्राम आदि के अन्दर वसे घरों में भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

ग्राम आदि के वाहर वसने वाली निर्ग्रन्थियों को ग्राम आदि के वाहर वसे घरों में भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

विशेषार्थ—प्रत्येक जनपद में ग्राम, नगर, खेट, कर्वट, मडम्ब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, आश्रम, संनिवेश, सम्वाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन और राजधानी आदि वस्तियाँ होती हैं।

ये वस्तियाँ दो प्रकार की होती हैं :—

१—जिस ग्राम आदि के चारों ओर पाषाण, ईंटें, मिट्टी, काष्ट, वाँस या काँटों आदि का तथा खाई, तालाव, नदी, गर्त, पर्वत या दुर्ग का परिक्षेप हो और उस ग्राम आदि के परिक्षेप (प्राकार) के अन्दर ही घर वसे हुए हों, वाहर नहीं। उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'अवाहिरिक' कहा जाता है।

२—जिस ग्राम आदि के चारों ओर पूर्वोक्त प्रकार के प्राकारों में से किसी एक प्रकार का प्राकार होता है और उस ग्राम आदि के वाहर भी घर वसे हुए होते हैं। उस ग्राम आदि को 'सपरिक्षेप' और 'सवाहिरिक' कहा जाता है।

साधु-साध्वियाँ उक्त दोनों प्रकार की वस्तियों में वसते हैं।

वर्षाकाल में उनके लिए सर्वत्र चार मास पर्यन्त वसने का विधान है किन्तु वर्षाकाल के अतिरिक्त आठ मास तक वे कहाँ कितने ठहरें ? इसका विधान उपरोक्त चार सूत्रों में है।

वगडाप्रकृतम्

सूत्र १०

से गामंसि वा जाव—रायहाणिसि वा,

एगवगडाए, एगदुवाराए, [illegible],

नो कप्पइ निग्गंथाण [illegible] एगयओ वत्थए ॥१०॥

वगडाप्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को एक वगडा एक द्वार और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम-यावत् राजधानी में (भिन्न-भिन्न उपाश्रयों में भी) समकाल वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र ११

से गामंसि वा जाव—रायहाणिंसि वा,
अभिनिव्वगडाए, अभिनिद्दुवाराए अभिनिक्खमणपवेसाए,
कप्पइ निग्गंथाण य निग्गंथीण य एगयओ वत्थए ॥११॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अनेक वगडा, अनेक द्वार और अनेक निष्क्रमण—प्रवेश वाले ग्राम-यावत्-राजधानी में समकाल वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—इन दो सूत्रों में 'वगडा', 'द्वार' और 'निष्क्रमण-प्रवेश' ये तीन पद विशेष रूप से विवेचन योग्य हैं।

(१) **'वगडा'** के वाड परिक्षेप या प्राकार आदि अनेक नाम पर्यायवाची हैं।

ग्राम आदि या गृह आदि की सुरक्षा के लिए उनके चारों ओर जो घेरा बनाया जाता है उसे यहाँ 'वगडा' कहा गया है।

यह घेरा पाषाण, ईंट, मिट्टी आदि का बनाया जाता है, जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

(२) **'द्वार'**—ग्राम आदि या गृह आदि में प्रवेश करने का या उनमें से निकलने का मार्ग।

(३) **'निष्क्रमण-प्रवेश'**—ये दोनों क्रियाएँ हैं। ग्राम आदि या गृह आदि से बाहर जाना 'निष्क्रमण' है और उनके अभ्यन्तर प्रवेश करना 'प्रवेश' है।

यहाँ दो प्रकार के द्वार समझने चाहिए :

१—ग्राम आदि या गृह आदि के कुछ द्वार ऐसे होते हैं जो सर्वसाधारण के निष्क्रमण-प्रवेश के लिए नियत होते हैं।

२—कुछ द्वार ऐसे होते हैं जो सर्वसाधारण के निष्क्रमण-प्रवेश के लिए नियत नहीं होते हैं। जिनका उपयोग किसी विशेष कारण से या तो निषिद्ध कर दिया गया है या किसी विशेष अवसर पर निष्क्रमण-प्रवेश के लिए ही उपयोग होता है।

यहाँ वगडा और द्वार पद के चारभंग हैं :

(१) एक वगडा और एक द्वार।

(२) एक वगडा और अनेक द्वार।

(३) अनेक वगडा और एक द्वार।

(४) अनेक वगडा और अनेक द्वार।

भाष्य के अनुसार इनमें से प्रथम तीन भंग सूत्रांक १० से और अन्तिम चतुर्थ भंग सूत्रांक ११ से सम्बन्धित हैं।

सूत्रांक १० में एक वगडा और एक द्वार और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम-यावत्-राजधानी में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों के समकाल वसने का निषेध है। साथ-साथ ही एक वगडा अनेक द्वार और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले तथा अनेक वगडा एक द्वार और एक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम-यावत्-राजधानी में भी उनके समकाल वसने का निषेध है।

ऐसे ग्राम-यावत्-राजधानी में ठहरने पर एक निष्क्रमण-प्रवेश के कारण जिन दोषों के लगने की सम्भावना है उनका वर्णन भाष्यकार ने विस्तारपूर्वक किया है। उनका संक्षेप इस प्रकार है :

१—उच्चार-प्रस्रवण भूमि में और स्वाध्याय भूमि में आते-जाते समय तथा भिक्षा के समय गलियों में या ग्राम के द्वार पर निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का बार-बार मिलन होने से एक-दूसरे के साथ संसर्ग बढ़ता है और उससे रागभाव की वृद्धि होती है।

"संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति" इस सूक्ति के अनुसार संयम की हानि सुनिश्चित है।

एक वगडा में निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के उपाश्रयों के द्वार एक-दूसरे के आमने-सामने हो।

एक उपाश्रय के द्वार के पार्श्वभाग में दूसरे उपाश्रय का द्वार हो।

एक उपाश्रय के पृष्ठभाग में दूसरे उपाश्रय का द्वार हो।

एक उपाश्रय का द्वार ऊपर हो और दूसरे उपाश्रय का द्वार नीचे हो।

तथा निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय समपंक्ति में हो तो जन-साधारण में अनेक आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं तथा उनके संयम की हानि होने की सम्भावना रहती है।

सूत्रांक ११ में अनेक वगडा अनेक द्वार और अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम आदि में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों के समकाल साथ रहने का जो विधान है वह निर्दोष है। क्योंकि अनेक निष्क्रमण-प्रवेश वाले ग्राम आदि में निर्ग्रन्थों तथा निर्ग्रन्थियों का वार-वार मिलन न होने से न सम्पर्क वढ़ेगा और न रागभाव वढ़ेगा।

आपणगृहरथ्यामुखादिप्रकृतम्

सूत्र १२

नो कप्पइ निग्गंथीणं,
आवणगिहंसि वा, रत्थामुहंसि वा,
सिंघाडगंसि वा, तियंसि वा, चउक्कंसि वा,
चच्चरंसि वा, अन्तरावणंसि वा वत्थए ॥१२॥

आपणगृह-रथ्यामुखादि प्रकरण

निर्ग्रन्थियों को आपणगृह रथ्यामुख शृंगाटक—त्रिक, चतुष्क, चत्वर अथवा अन्तरापण में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र १३

कप्पइ निग्गंथाणं,
आवणगिहंसि वा जाव—अन्तरावणंसि वा वत्थए ॥१३॥

किन्तु निर्ग्रन्थों को आपणगृह रथ्यामुख शृंगाटक—त्रिक, चतुष्क, चत्वर अथवा अन्तरापण में वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—हाट-वाजार को आपण कहते हैं, उसके वीच में विद्यमान वसतिका या उपाश्रय **आपणगृह** कहा जाता है।

रथ्या नाम गली या मोहल्ले का है, जिस उपाश्रय या घर का मुख (द्वार) गली या मोहल्ले की ओर हो, वह रथ्यामुख कहलाता है अथवा जिस घर के आगे से गली प्रारम्भ होती हो, उसे भी **रथ्यामुख** कहते हैं।

तीन गली या रास्तों से मिलने के स्थान को शृंगाटक कहते हैं अथवा सिंघाड़े के समान त्रिकोण स्थान को **शृंगाटक** कहते हैं।

चार मार्गों के समागम को (चौराहे को) **चतुष्क** कहते हैं।

जहाँ पर छह रास्ते आकर मिलें, अथवा जहाँ से छह और रास्ते जाते हों, ऐसे स्थान को चत्वर कहते हैं।

अन्तरापण नाम हाट-बाजार के मार्ग का है। जिस उपाश्रय के एक ओर अथवा दोनों ओर बाजार का मार्ग हो, उसे अन्तरापण कहते हैं। अथवा जिस घर के भीतर दुकान या बाजार हो उसे भी **अन्तरापण** कहते हैं।

ऐसे उपाश्रयों या घरों में साध्वियों को नहीं रहना चाहिए। क्योंकि ऐसे स्थानों पर ठहरने से ब्रह्मचर्यव्रत के भंग होने की सम्भावना रहती है।

अपावृतद्वारोपाश्रयप्रकृतम्

सूत्र १४

नो कप्पइ निग्गंथीणं,
अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए ॥१४॥

अपावृतद्वार-उपाश्रय प्रकरण

निर्ग्रन्थियों को अपावृत द्वार वाले उपाश्रय में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र १५

एगं पत्थारं अन्तो किच्चा, एगं पत्थारं बाहिं किच्चा,
ओहाडिय चिलिमिलियागंसि एवं णं कप्पइ वत्थए ॥१५॥

किन्तु निर्ग्रन्थियों को अपावृतद्वार वाले उपाश्रय के अन्दर एक प्रस्तार करके और एक प्रस्तार बाहर करके तथा अन्दर की ओर चिलिमिलिका बाँधकर उसमें वसना कल्पता है।

सूत्र १६

कप्पइ निग्गंथाणं,
अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए ॥१६॥

निर्ग्रन्थों को अपावृतद्वार वाले उपाश्रय में वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—जिस उपाश्रय या गृह आदि का द्वार कपाट-युक्त न हो, ऐसे स्थान पर साध्वियों को ठहरने का जो निषेध किया गया है, उसका स्पष्टीकरण करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि द्वार के खुले रहने से बाहर आते-

जाते तरुण पुरुषों को देखना और वैश्याओं के हाव-भाव विलासमय जीवन का अवलोकन करना सम्भव है। इससे साध्वियों का चित्त चंचल हो सकता है।

राजमार्ग पर आती-जाती वरातों के देखने से विवाहित जीवन बिताने वाली साध्वियों को अपने वैवाहिक जीवन की स्मृति ताजी हो सकती है और कुमारी साध्वियों को वैवाहिक जीवन के आनन्दोपभोग के लिए उत्कण्ठा जाग सकती है।

राजा आदि की सवारी आती-जाती देखने से उनके हृदय में भी तप के फलस्वरूप आगामी भव में वैसी ही विभूति पाने का निदान-भाव उत्पन्न हो सकता है। इसके अतिरिक्त खुले द्वार वाले स्थान पर ठहरी हुई साध्वियों में यदि कोई साध्वी युवती और रूपवती हो तो उसे देखकर नवयुवकों का मन चंचल हो सकता है और वे उसका अपहरण कर सकते हैं, या दुराचारिणी स्त्रियों के द्वारा उसे फुसलाने का प्रयत्न कर सकते हैं।

खुला द्वार देखकर रात्रि के समय चोर आदि आकर साध्वियों के वस्त्र-पात्रादि को भी ले जा सकते हैं। कामी पुरुष भी आ सकते हैं, कुत्ते आदि भी घुस सकते हैं, इत्यादि कारणों से कपाट-रहित द्वार वाले उपाश्रय या घर में साध्वियों को ठहरने का निषेध किया गया है। किन्तु यदि अन्वेषण करते पर भी किसी ग्रामादि में किवाड़ों वाला घर ठहरने को नहीं मिले और खुले द्वार वाले घर में ठहरने का अवसर आवे तो उसके लिए वताया गया है कि वाँस या खजूर की छिद्ररहित चटाई, या सन-टाट आदि के परदे से द्वार को वाहरी ओर से और भीतरी ओर से भी वन्द करके ठहरना चाहिए। रात्रि के समय उन दोनों परदों को किसी खूंटी आदि से ऊपर, वीच में और नीचे इस प्रकार वाँधे कि वाहर से कोई पुरुष प्रवेश न कर सके। फिर भी सुरक्षा के लिए वताया गया है कि उस द्वार पर सशक्त साध्वी वारी-वारी से रात भर पहरा देवे तथा रूपवती युवती साध्वियों को गीतार्थ और वृद्ध साध्वियों के मध्य-मध्य में चक्रवाल रूप से स्थान देकर सोने की व्यवस्था गणिनी या प्रवर्तिनी को करनी चाहिए। गणिनी को सवके मध्य में सोना चाहिए और वीच-वीच में सवकी सँभाल करते रहना चाहिए।

खुले द्वार वाले स्थान में साधुओं को ठहरने का जो विधान किया गया है उसका कारण स्पष्ट है कि उन्हें उक्त प्रकार की किसी आशंका की सम्भावना नहीं है।

घटीमात्रकप्रकृतम्

सूत्र १७

कप्पइ निग्गंथीणं,
अन्तोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥१७॥

घटीमात्रक प्रकरण

निर्ग्रन्थियों को अन्दर की ओर लेपयुक्त घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

सूत्र १८

नो कप्पइ निग्गंथाणं,
अन्तोलित्तं घडिमत्तयं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥१८॥

निर्ग्रन्थों को अन्दर की ओर लेपयुक्त घटीमात्रक रखना और उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—उपर्युक्त दो सूत्रों में से प्रथम सूत्र में साध्वियों को घटीमात्रक रखने और उसका उपभोग करने का विधान किया गया है। इसका कारण निर्युक्तिकार ने यह बताया है कि साध्वी को प्रतिबद्ध (चारों ओर घरों से घिरी हुई) बस्ती में रहने का विधान है, वह यदि घटीमात्रक न रखे और सागारिकजनों के देखते हुए बाहर कायिकी (मूत्र) व्युत्सर्जन करे तो प्रवचन की लघुता होती है और लोगों में अपकीर्ति फैलती है। यदि वह कायिकी के वेग को धारण करती है, तो उसे अनेक प्रकार की शारीरिक वेदनाएँ हो सकती हैं। अतएव साध्वियों को घटीमात्रक रखना ही चाहिए।

दूसरे सूत्र में साधुओं को घटीमात्रक रखने का निषेध किया गया है और उसका कारण भाष्य गाथांक २३६८ की टीका में यह बताया गया है कि साधु अप्रतिबद्ध एकान्त उपाश्रय में ठहरते हैं, अतः वे घटीमात्रक को नहीं रखते हैं। सूत्र में स्पष्ट निषेध होने पर भी निर्युक्तिकार ने कारण-विशेष के होने पर अपवाद रूप से घटीमात्रक के रखने का भी विधान किया है और बताया है कि यदि कोई साधु बीमार होने से उपाश्रय के बाहर कायिकी-व्युत्सर्जन करने के लिए जाने में असमर्थ हो या किसी शिष्य या शैक्ष को बार-बार मूत्र-बाधा होती हो तो वह अलाबु (तूम्बे का भाजन) रख सकता है,

जिसके भीतर का कटाह (दल) दूर कर दिया गया हो और घी से जिसका भीतरी भाग चिकना कर दिया गया हो, जिससे कि मूत्र बाहर न झर सके।

घटीमात्रक कैसा हो ? (गाथा २३६४ में) इसका स्पष्टीकरण निर्युक्तिकार ने इस प्रकार किया है—वह अपरिश्रावी हो, भीतर से चिकना हो, प्रकाश-वदन हो अर्थात् जिसके मुख से भीतरी भाग स्पष्ट दिखायी देता हो, मृण्मय हो, अर्थात् मिट्टी से बना हो, हल्का हो, श्वेत वर्ण का हो, टूटा-फूटा न हो और दर्दर पिधान अर्थात् वस्त्रमय बन्धन वाला हो। अपवाद रूप से साधु को अलावु-मात्रक का निर्युक्तिकार ने विधान किया है और उसके अभाव में (न मिलने पर) घटीमात्रक और उसके भी अभाव में कुंडिका (काष्ठ-कमंडलु) आदि के ग्रहण करने का भी विधान किया है।

सूत्रांक १७ में साध्वी को अन्तःलिप्त घटीमात्रक के रखने का और सूत्रांक १८ में साधु को अन्तःलिप्त घटीमात्रक नहीं रखने का जो विधान किया गया है उसका रहस्य यह प्रतीत होता है कि साध्वी के मासिक रजःस्रावकाल में लेपरहित मृण्मय घटीमात्रक के सूक्ष्म छिद्रों में रजःकणों का प्रवेश सम्भव है। किन्तु लेपयुक्त घटीमात्रक में उनके प्रवेश की सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि साध्वी को अन्तःलिप्त घटीमात्रक के रखने और साधु को नहीं रखने का विधान किया गया है।

चिलिमिलिकाप्रकृतम्

सूत्र १९

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥१९॥

चिलिमिलिका प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चेल-चिलिमिलिका रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—चिलिमिलिका यह देशी शब्द है, यह छोलदारी के आकार वाली एक प्रकार की वस्त्र कुटी है—यह पाँच प्रकार की होती है—(१) **सूत्रमयी** (कपास के धागों से बनी हुई), (२) **रज्जुमयी** (ऊन आदि के मोटे धागों से बनी हुई), (३) **वल्कलमयी** (सन-पटसन आदि की छाल से बनी हुई),

(४) **दण्डकमयी** (बाँस-बेंत से बनी हुई), तथा (५) **कटमयी** (चटाई से बनी हुई)। प्रकृत सूत्र में वस्त्र से बनी चिलमिली को रखने का विधान किया गया है, अन्य का नहीं, क्योंकि उनके भारी होने से विहार के समय साथ में लेजाना सम्भव नहीं, या बहुश्रम-साध्य है। चिलमिली का प्रमाण पाँच हाथ लम्बी, तीन हाथ चौड़ी और तीन हाथ ऊँची बताया गया है। इसके भीतर एक साधु या साध्वी का संरक्षण भलीभांति से हो सकता है।

भाष्यकार ने प्रत्येक साधु और साध्वी को एक-एक चिलिमिलिका रखने का निर्देश किया है जिसका अभिप्राय यह है कि वर्षा आदि ऋतुओं में जबकि डांस, मच्छर, पतंगे आदि क्षुद्रजन्तु अधिक उत्पन्न होते हैं, तब रात्रि के समय चिलिमिलिका के अन्दर सोने से उनकी रक्षा होती है। इसी प्रकार पानी के बरसने पर, विहार काल में वनादि प्रदेशों में ठहरने पर जंगली जानवरों से आत्मरक्षा भी होती है। रोगी साधु की परिचर्या भी उसके लगाने से सहज में होती है। टीकाकार ने चिलिमिलिका नहीं रखने पर प्रायश्चित्त का भी विधान किया है।

दकतीरप्रकृतम्

सूत्र २०

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा, निसीइत्तए वा, तुयट्टित्तए वा,
निद्दाइत्तए वा, पयलाइत्तए वा,
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहरित्तए वा,
उच्चारं वा, पासवणं वा, खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवेत्तए,
सज्झायं वा करित्तए, धम्मजागरियं[1] वा जागरित्तए,
काउसग्गं वा ठाणं ठाइत्तए ॥२०॥

दकतीर प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को दकतीर (जल के किनारे) पर खड़ा होना, बैठना, शयन करना, निद्रा लेना, ऊंघना, अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार का खाना-पीना, मल-मूत्र, श्लेष्मा, नासामल आदि का परित्याग

---

१ पाठान्तरम्—झाणं वा झाइत्तए।

करना—स्वाध्याय करना, धर्म जागरिका (रात्रि जागरण) करना तथा खड़े या बैठे कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—नदी या सरोवर आदि जलाशय के जिस स्थान से ग्रामवासी या वनवासी लोग पानी भर कर ले जाते हैं, और जहाँ पर गाय-भैंस आदि पशु या जंगली जानवर पानी पीने को आते हैं, ऐसे स्थान को 'दकतीर' कहते हैं। ऐसे स्थान पर साधु या साध्वी का उठना-बैठना, खाना-पीना, मल-मूत्रादि करना, रात्रि-जागरण करना और ध्यानावस्थित होकर कायोत्सर्ग आदि करने का जो निषेध किया गया है, उसके अनेक कारण निर्युक्तिकार, भाष्यकार और टीकाकार ने बताये हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—जल भरने को आने वाली स्त्रियों को साधु के चरित्र में शंका हो सकती है, पानी पीने को आने वाले जानवर डर कर विना पानी पिये ही वापस लौट सकते हैं, उनके पानी पीने में अन्तराय होता है, इधर-उधर भागने से जीवघात की भी सम्भावना है, दुष्ट जानवर साधु को मार सकते हैं, भील-भीलनी आदि को मैथुन-सेवन करते हुए देखकर काम-विकार जागृत हो सकता है, इत्यादि कारणों से जलस्थान के किनारे ठहरने का निषेध किया गया है।

चित्रकर्मप्रकृतम्

सूत्र २१

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥२१॥

चित्रकर्मप्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सचित्र उपाश्रय में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र २२

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥२२॥

किन्तु निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चित्र-रहित उपाश्रय में वसना कल्पता है।[1]

---

१ दश० अ० ८, गा—५५।

विशेषार्थ—जिन उपाश्रयों की भित्तियों पर देव-देवियों के, स्त्री-पुरुषों के और पशु-पक्षियों के जोड़ों के नाना प्रकार क्रीड़ा करते हुए चित्र लिखे हों, वहाँ पर साधु या साध्वियों को नहीं ठहरना चाहिए, क्योंकि उन्हें देखकर उनके मन में भी विकारभाव जागृत हो सकता है, तथा पूर्व में भोगे हुए अपने भोगों की याद आने से उनका मन स्वाध्याय और ध्यान में नहीं लग सकता है, अतः सचित्र उपाश्रयों में ठहरने का साधु-साध्वियों को निषेध किया गया है।

सागारिक-निश्राप्रकृतम्

सूत्र २३

नो कप्पइ निग्गंथीणं,
सागारिय-अनिस्साए वत्थए ॥२३॥

सागारिक-निश्रा प्रकरण

निर्ग्रन्थियों को सागारिक की अनिश्रा से (उपाश्रय के स्वामी से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हुए विना) उपाश्रय में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र २४

कप्पइ निग्गंथीणं,
सागारिय-निस्साए वत्थए ॥२४॥

किन्तु निर्ग्रन्थियों को सागारिक की निश्रा से (उपाश्रय के स्वामी से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त होने पर) उपाश्रय में वसना कल्पता है।

सूत्र २५

कप्पइ निग्गंथाणं,
सागारिय-निस्साए वा, अनिस्साए वा वत्थए ॥२५॥

निर्ग्रन्थों को सागारिक की निश्रा या अनिश्रा से (उपाश्रय के स्वामी से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त हो या न हो) उपाश्रय में वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—जैसे वृक्षादि के आश्रय के विना लता पवन से प्रेरित होकर कम्पित और अस्थिर हो जाती है उसी प्रकार शय्यातर की निश्रा (सुरक्षा का उत्तरदायित्व मिले) विना श्रमणी भी क्षुभित एवं भयभीत हो सकती है,

अतः गुरुणी-प्रवर्तिनी से रक्षित होने पर भी श्रमणी को शय्यातर की निश्रा में रहना आवश्यक बताया गया है। किन्तु साधुवर्ग सशक्त, दृढ़चित्त एवं निर्भय मनोवृत्ति वाला होता है, अतः वह शय्यातर की निश्रा के बिना भी उपाश्रय में रह सकता है। यदि चोर या हिंसक जीवों का उपद्रव हो तो साधुओं को भी शय्यातर से सुरक्षा का आश्वासन प्राप्त करना आवश्यक है।

सागारिकोपाश्रयप्रकृतम्

सूत्र २६

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
सागारिए उवस्सए वत्थए ॥२६॥

सागरिक-उपाश्रय प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सागारिक उपाश्रय में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र २७

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
अप्पसागारिए उवस्सए वत्थए ॥२७॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अल्प-सागारिक उपाश्रय में वसना कल्पता है।

सूत्र २८

नो कप्पइ निग्गंथाणं,
इत्थि-सागारिए उवस्सए वत्थए ॥२८॥

निर्ग्रन्थों को स्त्री-सागारिक उपाश्रय में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र २९

कप्पइ निग्गंथाणं,
पुरिस-सागारिए उवस्सए वत्थए ॥२९॥

निर्ग्रन्थों को पुरुष-सागारिक उपाश्रय में वसना कल्पता है।

सूत्र ३०

नो कप्पइ निग्गंथीणं,
पुरिस-सागारिए उवस्सए वत्थए ॥३०॥

निर्ग्रन्थियों को पुरुष-सागारिक उपाश्रय में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३१

कप्पइ निग्गंथीणं,
इत्थि-सागारिए उवस्सए वत्थए ॥३१॥

निर्ग्रन्थियों को स्त्री-सागारिक उपाश्रय में वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—सागारिक उपाश्रय की निर्युक्तिकार ने बहुत विस्तृत व्याख्या की है। संक्षेप में, वह इस प्रकार है— सागारिक उपाश्रय दो प्रकार के होते हैं— द्रव्य-सागारिक और भाव-सागारिक। जिस उपाश्रय में स्त्री-पुरुषों के रूप भित्ति आदि पर लिखे हों, काष्ठ, पाषाणादिकी मूर्तियाँ स्त्री-पुरुषादि की हों, उनके शृंगार के साधन वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला अलंकार आदि रखे हों, जहाँ पर भोजन-पान की सामग्री रखी हुई हो, गीत, नृत्य नाटक आदि होते हों, या वीणा, वांसुरी मृदंगादि बाजे बजते हों, वह उपाश्रय स्वस्थान में द्रव्य सागारिक है और परस्थान में भाव-सागारिक है। स्वस्थान और परस्थान का अर्थ यह है कि यदि उस उपाश्रय में पुरुषों के चित्र, मूर्तियाँ हों और पुरुषों के ही गीत, नृत्य नाटकादि होते हों तो वह साधुओं के लिए द्रव्य-सागारिक है और साध्वियों के लिए भाव-सागारिक है, क्योंकि पुरुषों के रूप, मूर्ति आदि को देखकर साधुओं का मन चंचल तो हो सकता है, किन्तु वे संयम से भ्रष्ट नहीं हो सकते। पर साध्वियों के लिए वही उपाश्रय भाव-सागारिक इसलिए है कि पुरुषों के उक्त प्रकार के चित्र, मूर्ति, गीत आदि को देख-सुनकर उनका मन ही चंचल नहीं होगा, अपितु वे संयम से भी भ्रष्ट हो सकती हैं। इसी प्रकार जिस उपाश्रय में स्त्रियों के चित्र, मूर्त्ति आदि हों और उनके गीत, नृत्य, नाटकादि होते हों तो उन्हें देख-सुनकर उनका मन ही चंचल नहीं होगा, अपितु वे संयम से भी भ्रष्ट हो सकते हैं इसलिए इस प्रकार का उपाश्रय पुरुषों के लिए भाव-सागारिक है और स्त्रियों के लिए द्रव्य सागारिक है। अतएव साधु और साध्वियों को इन दोनों ही प्रकार के (द्रव्य-सागारिक और भाव-सागारिक) उपाश्रयों में रहना योग्य नहीं है।

यद्यपि उक्त प्रकार के द्रव्य और भाव-सागारिक उपाश्रयों में रहने का स्पष्ट निषेध किया गया है, सो वह उत्सर्ग मार्ग है, किन्तु विचरते हुए साधुओं को उक्त दोष-रहित निर्दोष उपाश्रय ठहरने को न मिले और पानी वरसने लगे अथवा चोरों का या जंगली जानवरों का भय हो तथा वीमारी आदि का कोई कारण-विशेष उपस्थित हो जाय, तो ऐसी दशा में अल्प सागारिक दोषयुक्त उपाश्रय में साधु या साध्वी ठहर सकते हैं, इसे अपवादमार्ग समझना चाहिए।

उक्त चार सूत्रों में से २७वाँ और २९वाँ सूत्र तो साधु और साध्वी के लिए सागारिक-उपाश्रय में रहने का स्पष्ट निषेध करते ही हैं। किन्तु २८वें और ३०वें सूत्र में जो सागारिक उपाश्रय में रहने का विधान किया गया है, वह भी उक्त विशेष कारणों के उपस्थित होने पर ही समझना चाहिए।

प्रतिवद्धशय्याप्रकृतम्

सूत्र ३२

नो कप्पइ निग्गंथाणं,
पडिबद्ध-सेज्जाए वत्थए ॥३२॥

प्रतिवद्ध-शय्या प्रकरण

निर्ग्रन्थों को प्रतिवद्ध शय्या में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३३

कप्पइ निग्गंथीणं,
पडिवद्ध-सेज्जाए वत्थए ॥३३॥

किन्तु निर्ग्रन्थियों को प्रतिवद्ध शय्या में वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—जिस उपाश्रय की दीवालें या उपाश्रय का कोई भाग गृहस्थ के घर से संवद्ध हो, उसे प्रतिवद्ध उपाश्रय कहा गया है। यह चार प्रकार का होता है:

१—जहाँ पर गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के और ठहरने वाले साधुओं के मूत्रादि करने का स्थान एक ही हो।

२—जहाँ उन सबके उठने-बैठने का एक ही स्थान हो।

३—जहाँ पर एक-दूसरे का रूप देख सकें।

४—जहाँ परस्पर एक-दूसरे के शब्द सुनाई दें।

साधुओं को ऐसे सागारिक-प्रतिबद्ध उपाश्रय में नहीं ठहरना चाहिए। किन्तु साध्वियाँ ठहर सकती हैं। यहाँ शंका की जा सकती है कि जब सागारिक प्रतिबद्ध उपाश्रय में साधुओं को ठहरने का निषेध किया गया है, तब साध्वियों को ठहरने का विधान क्यों? निर्युक्तिकार ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि जिस सागारिक-गृह में केवल बूढ़ी पितामही, मातामही, माता, बुआ, बहिन आदि विधवा स्त्रियाँ रहती हों, ऐसे प्रतिबद्ध उपाश्रय में साध्वियाँ ठहर सकती हैं, क्योंकि उनके साथ उठने-बैठने, उनके शब्द सुनने और उनके मूत्रादि के स्थान पर यतना से मूत्रादि करने में साध्वियों के संयम-विराधना की सम्भावना नहीं है।

गाथापतिकुलमध्यवासप्रकृतम्

सूत्र ३४

नो कप्पइ निग्गंथाणं,
गाहावइ-कुलस्स मज्झं मज्झेणं गंतुं वत्थए ॥३४॥

सूत्र ३५

कप्पइ निग्गंथीणं,
गाहावइ-कुलस्स मज्झं मज्झेणं गंतुं वत्थए ॥३५॥

गाथापति कुलमध्य-वास प्रकरण

गृह के मध्य में होकर जिस उपाश्रय में जाने-आने का मार्ग हो उस उपाश्रय में निर्ग्रन्थों को बसना नहीं कल्पता है।

किन्तु गृह के मध्य में होकर जिस उपाश्रय में जाने-आने का मार्ग हो उस उपाश्रय में निर्ग्रन्थियों को बसना कल्पता है।

विशेषार्थ—यदि कोई उपाश्रय ऐसे स्थान पर हो जहाँ कि गृहस्थ के घर के बीचोंबीच होकर जाना-आना पड़े तो ऐसे उपाश्रय में साधुओं को नहीं ठरहना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ के घर के बीच में होकर जाने-आने पर उसकी स्त्री, बहिन आदि के रूप देखने, शब्द सुनने एवं गृहस्थी के अनेक प्रकार के कार्यकलापों के देखने से साधुओं का चित्त विक्षोभ को प्राप्त हो सकता है। अथवा घर में रहने वाली स्त्रियाँ क्षोभ को प्राप्त हो सकती हैं। फिर भी साध्वियों को ठहरने का जो विधान सूत्र करता है, उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि यदि निर्दोष उपाश्रय न मिले और कोई उपाश्रय का मार्ग

गृहस्थ के घर की एक ओर वाली गली से हो, तथा उस घर में साध्वी के सगे माता-पितादि, या व्रती, जिन-वचन-भावित श्रावक रहते हों तो ऐसे उपाश्रय में साध्वियाँ ठहर सकती हैं ।

व्यवशमनप्रकृतम्

सूत्र ३६

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु,
तं अहिगरणं विओसवित्ता, विओसवियपाहुडे;
इच्छाए परो आढाएज्जा,
इच्छाए परो णो आढाएज्जा;
इच्छाए परो अब्भुट्ठेज्जा,
इच्छाए परो णो अब्भुट्ठेज्जा;
इच्छाए परो वन्देज्जा,
इच्छाए परो नो वन्देज्जा;
इच्छाए परो संभुंजेज्जा,
इच्छाए परो नो संभुंजेज्जा;
इच्छाए परो संवसेज्जा,
इच्छाए परो नो संवसेज्जा;
इच्छाए परो उवसमेज्जा,
इच्छाए परो नो उवसमेज्जा;
जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा,
जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा;
तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं ।
से किमाहु भंते !
"उवसमसारं खु सामण्णं" ॥३६॥

व्यवशमन प्रकरण

भिक्षु किसी (आचार्य, उपाध्याय, गणी गणावच्छेदक, प्रवर्तक, स्थविर, भिक्षु या प्रवर्तिनी आदि) से कलह होने पर उस कलह को (क्षमायाचना करके) उपशान्त करे (गुरु के समक्ष आलोचना करे तथा उनके दिए हुए प्रायश्चित्त को स्वीकार कर पुनः कलह न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हो) और स्वयं सर्वथा उपशान्त हो जावे ।

१—क्षमायाचना के बाद भी वह (जिससे क्षमायाचना की गयी है) इच्छा हो तो उसका (क्षमा याचना करने वाले को) आदर करे। इच्छा न हो तो न करे।

२—वह इच्छा हो तो उसके सन्मान में उठे, इच्छा न हो तो न उठे।

३—वह इच्छा हो तो वन्दना करे, इच्छा न हो तो वन्दना न करे।

४—वह इच्छा हो तो उसके साथ भोजन करे इच्छा न हो तो न करे।

५—वह इच्छा हो तो उसके साथ रहे, इच्छा न हो तो न रहे।

६—वह इच्छा हो तो उपशान्त हो, इच्छा हो तो न हो।

जो उपशान्त नहीं होता है, उसके संयम की आराधना नहीं होती है।

इसलिए अपने आपको ही उपशान्त करना चाहिए।

प्रश्न—हे भन्ते ! ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर—(हे शिष्यः) श्रमणजीवन में उपशम ही सार है।

चारप्रकृतम्

सूत्र ३७

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
वासावासासु चारए ॥३७॥

सूत्र ३८

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
हेमन्त-गिम्हासु चारए ॥३८॥

चार प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वर्षावास में विहार करना नहीं कल्पता है।

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त और ग्रीष्मऋतु में विहार करना कल्पता है।

विशेषार्थ—वर्षाकाल में पानी बरसने से भूमि सर्वत्र हरित तृणांकुरादि से व्याप्त हो जाती है। घास पर उत्पन्न होनेवाले छोटे जन्तु एवं भूमि पर उत्पन्न होनेवाले केंचुआ, गिजाई आदि त्रसजीवों से पृथ्वी व्याप्त हो जाती है, अतः सावधानीपूर्वक विहार करने पर भी उनकी विराधना सम्भव है। इसके अतिरिक्त पानी के बरसने से मार्ग में पड़ने

वाले नदी-नाले भी जल-पूर से प्रवाहित रहते हैं, अतः साधु-साध्वियों को उनके पार करने में बाधा हो सकती है विहारकाल में पानी बरसने से उनके वस्त्रों के एवं अन्य उपधि के भीगने की भी सम्भावना रहती है, इसलिए भगवान् ने वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान पर ही साधु-साध्वियों के रहने का विधान किया है।

वैराज्य–विरुद्धराज्यप्रकृतम्

सूत्र ३९

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
वेरज्ज–विरुद्धरज्जंसि—
सज्जं गमणं, सज्जं आगमणं, सज्जं गमणागमणं करित्तए।
जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा,
वेरज्ज–विरुद्धरज्जंसि,
सज्जं गमणं, सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ,
करेंतं वा साइज्जइ, से दुहओ वि अइक्कममाणे,
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं॥३९॥

वैराज्य-विरुद्ध-राज्य प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वैराज्य-अराजक और विरोधी राज्य में शीघ्र जाना, शीघ्र आना और शीघ्र जाना-आना नहीं कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी वैराज्य-अराजक और विरोधी राज्य में शीघ्र जाना, शीघ्र आना और शीघ्र जाना-आना करते हैं तथा शीघ्र जाना-आना करने वालों का अनुमोदन करते हैं वे दोनों (तीर्थंकर और राजा) की आज्ञा का अतिक्रमण करते हुए अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं।

विशेषार्थ—निर्युक्तिकार ने और तदनुसार टीकाकार ने वैराज्य के निरुक्तिवश अनेक अर्थ किये हैं।

जिस राज्य में रहने वाले लोगों में पूर्व-पुरुष-परम्परागत वैर चल रहा हो।

अथवा जिन दो राज्यों में वैर उत्पन्न हो गया हो।

अथवा दूसरे राज्य के ग्राम-नगरादि को जलाने वाले जहाँ के राजा लोग हों।

अथवा जहाँ के मंत्री सेनापति आदि प्रधान पुरुष राजा से विरक्त हो रहे हों उसे पदच्युत करने के षड्यन्त्र में संलग्न हों।

अथवा जहाँ का राजा मर गया हो या निर्वासित कर दिया गया हो ऐसे अराजक राज्य को वैराज्य कहते हैं।

जहाँ पर दो राजाओं के राज्य में परस्पर गमनागमन प्रतिषिद्ध हो, ऐसे राज्यों को विरुद्धराज्य कहते हैं। इस प्रकार के वैराज्य और विरुद्धराज्य में साधु-साध्वियों को विचरने या कार्य-वशात् जाने-आने का निषेध किया है, क्योंकि ऐसे राज्यों में जल्दी-जल्दी आने-जाने पर उन राज्यों के अधिकारी चोर, गुप्तचर या षडयन्त्रकारी जानकर वध, बन्धन आदि नाना प्रकार के दुःख दे सकते हैं। अतः ऐसे वैराज्य और विरुद्ध-राज्य में विहार करने एवं गमनागमन करने वाला साधु राजा की सीमा का उल्लंघन तो करता ही है, साथ ही वह जिन भगवान की आज्ञा का भी उल्लंघन करता है और इसी कारण वह चातुर्मासिक अनुद्घातिक परिहारस्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

निर्युक्तिकार सूत्र के गमन, आगमन और गमनागमन इस अंश की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किन्हीं कारण-विशेषों से उक्त प्रकार के वैराज्य-विरुद्ध राज्य में जाना-आना भी पड़े तो पहले सीमावर्ती 'आरक्षक' से पूछे कि हम अमुक कार्य से आपके राज्य के भीतर जाना चाहते हैं, अतः जाने की स्वीकृति दीजिए। यदि वह स्वीकृति देने में अपनी असमर्थता बतलावे तो उस राज्य के नगर-सेठ के पास सन्देश भेजकर स्वीकृति मँगावे। उसके भी असमर्थता प्रकट करने पर सेनापति से, उसके भी असामर्थ्य प्रकट करने पर मंत्री से, उसके भी असामर्थ्य बताने पर राजा के पास सन्देश भेजे कि हम अमुक कारण-विशेष से आपके राज्य में प्रवेश करना चाहते हैं, अतः आने की स्वीकृति दीजिए और 'आरक्षक जनों' को आज्ञा दीजिए कि वे हमें राज्य में प्रवेश करने दें।

इसी प्रकार निष्क्रमण-समय भी उक्त क्रम से स्वीकृति लेकर वापस आना चाहिए। निर्युक्तिकार ने गमनागमन के वे विशेष कारण इस प्रकार बताये हैं :

यदि किसी साधु के माता-पिता दीक्षा के लिए उद्यत हों तो उनको दर्शन देने के लिए।

यदि शोक से विह्वल हों तो उनको सान्त्वना देने के लिए।

भक्तपान प्रत्याख्यान (समाधिमरण) का इच्छुक साधु अपने गुरु, या गीतार्थ के पास आलोचना के लिए, रोगी साधु की वैयावृत्य के लिए, अपने पर क्रुद्ध साधु को उपशान्त करने के लिए, वादियों द्वारा शास्त्रार्थ के लिए आह्वान करने पर शासन-प्रभावना के लिए, आचार्य का अपहरण कर लिए जाने पर उनके विमोचन के लिए तथा इसी प्रकार के अन्य कारणों को उपस्थित होने पर उक्त प्रकार से स्वीकृति लेकर साधु वैराज्य एवं विरुद्धराज्य में जा सकते हैं।

अवग्रहप्रकृतम्

सूत्र ४०

निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं,
केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा,
कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता,
दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥४०॥

अवग्रह प्रकरण

गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थ को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल, पात्र-बन्धन-वस्त्र या रजोहरण लेने के लिए कहे तो वस्त्रादि को 'साकारकृत' ग्रहण कर, उन्हें आचार्य के चरणों में रखकर तथा उन्हें ग्रहण करने के लिए उनसे दूसरी बार आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

सूत्र ४१

निग्गंथं च णं बहिया वियारभूमिं वा, विहारभूमिं वा, निक्खंतं समाणं,
केइ वत्थेण वा, पडिग्गहेण वा, कंबलेण वा, पायपुंछणेण वा, उवनिमंतेज्जा,
कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवित्ता दोच्चं पि उग्गहं
अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥४१॥

विचारभूमि (मल-मूत्र विसर्जन स्थान) या स्वाध्याय भूमि के लिए (उपाश्रय से या ग्राम से) बाहर निकलते हुए निर्ग्रन्थ को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल, पात्र-बन्धन वस्त्र या रजोहरण लेने के लिए कहे तो वस्त्रादि को 'साकारकृत' ग्रहण कर, उन्हें आचार्य के चरणों में रखकर तथा उन्हें ग्रहण करने के लिए उनसे दूसरी बार आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—यदि आचार्य से गोचरी की अनुज्ञा लेकर साधु भिक्षार्थ किसी गृहस्थ के घर में जावे और गृहस्वामिनी भक्त-पान देकर सूत्रोक्त वस्त्र, पात्रादि भी देवे तो साधु को यह कहकर लेना चाहिए कि यदि हमारे आचार्य इसे रखेंगे, मुझे या अन्य साधु को देंगे तो लेता हूँ, अन्यथा तुम्हारा यह वस्त्र-पात्रादि तुम्हें वापस लौटा दिया जायेगा, इसप्रकार से कहकर उसे गृह-स्वामिनी से ग्रहण करने को 'साकारकृत' कहते हैं। यदि वह साधु 'साकारकृत' न कहकर उसे ग्रहण करता है और अपने उपयोग में लेता है, तो गृहस्थ के द्वारा दिये जाने पर भी वह चोरी का भागी होता है और प्रायश्चित्त का पात्र बनता है।

सूत्र-पठित 'उवनिमंतेज्जा' पद की निरुक्ति करते हुए कहा गया है—"उप समीपे आगत्य निमंत्रयेत्।" अर्थात् भिक्षा के लिए आये हुए साधु के समीप आकर कहे कि आप इस वस्त्र, या पात्रादि को स्वीकार करें। तब साधु उससे (खासकर गृहस्वामिनी से) पूछे—यह वस्त्रादि किसका है और कैसा है अर्थात् कहाँ से और क्यों लाया गया है?

इन दो प्रश्नों का सन्तोषकारक (आधाकर्मादि दोषयुक्त नहीं है) उत्तर मिलने पर पुनः तीसरा प्रश्न करे कि मुझे क्यों दिया जा रहा है?

यदि उत्तर मिले कि आपके शरीर पर अति जीर्ण वस्त्र है, या पात्रादि टूटे-फूटे दिख रहे हैं, अतः आपको धर्मभावना या कर्तव्य से प्रेरित होकर दिया जा रहा है। तब उसे "साकारकृत" मानकर (आगार के साथ) ले लेवे। यदि सन्तोषकारक उत्तर न मिले तो न लेवे।

निर्युक्तिकार ने उक्त तीनों बातों को पूछने का अभिप्राय यह बताया है कि प्रथम के दो प्रश्नों से तो उसकी कल्पनीयता प्रमाणित हो जावेगी और तीसरे प्रश्न से दातार के भाव ज्ञात हो जावेंगे।

यदि साधु बिना पूछे ही उस दिये जाने वाले वस्त्रादि को ग्रहण करता है और घर का पति, देवर या अन्य दासी-दास आदि चुपचाप दिये और लिये जाने को देखता है तो देने और लेने वाले के विषय में अनेक प्रकार की आशंकाएँ कर सकता है कि हमारे घर की इस स्त्री का और साधु का कोई पारस्परिक आकर्षण प्रतीत होता है, इसके सन्तान नहीं है, अतः यह साधु से सन्तानोत्पत्ति के विषय में कोई मंत्र, तंत्र या भेषज्य चाहती है। इस प्रकार की नाना शंकाओं से आक्रान्त होकर वह स्त्री की, साधु की या दोनों की ही निन्दा, मारपीट आदि कर सकता है।

यदि घर के किसी व्यक्ति ने ऐसी कोई बात नहीं देखी-सुनी है और देने वाली स्त्री सन्तानादि से हीन होने के कारण साधु से किसी विद्या, मन्त्रादि को चाहती है, तो उस दी गयी वस्तु को लेकर चले जाने पर वह उपाश्रय में जाकर पूछ सकती है कि मुझे अमुक कार्य की सिद्धि का उपाय बताओ।

अथवा वह स्त्री प्रोषितभर्तृका है, या कामातुरा है, तो उपाश्रय में जाकर अपनी दूषित भावना को पूर्ण करने के लिए भी कह सकती है। उसके ऐसा कहने पर साधु मंत्रादि के विषय में तो यह उत्तर देवे कि "मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता हूँ अथवा गृहस्थों के लिए निमित्त (मन्त्रादि) का प्रयोग करना हमें नहीं कल्पता है।

कामाभिलाषा प्रकट करने पर कुशीलसेवन के दोष बताकर कहे कि, हम संयमी हैं, ऐसा चौथा पाप सेवन कर अपने संयम का नाश नहीं कर सकते हैं। ऐसा कहने पर वह क्षुब्ध होकर साधु की अपकीर्ति भी कर सकती है, अपनी दी गयी वस्तु भी वापस माँग सकती है, और इसी प्रकार के अनेक उपद्रव भी कर सकती है। इन सब कारणों से साधु को उक्त तीन प्रश्न पूछकर और दिये जाने वाले वस्त्र-पात्रादि के पूर्ण शुद्ध ज्ञात होने पर तथा दातार के विशुद्ध भावों को भलीभाँति से अवगत कर लेने पर ही आगार के साथ लेना उचित है, अन्यथा नहीं।

सूत्र ४२

निग्गंथि च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठं
केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणी पायमूले ठवित्ता।
दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥४२॥

गृहस्थ के घर में आहार के लिए प्रविष्ट निर्ग्रन्थी को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल, पात्र-बन्धन-वस्त्र या रजोहरण लेने के लिए कहे तो वस्त्रादि को 'साकारकृत' ग्रहण कर, उन्हें प्रवर्तिनी के चरणों में रखकर तथा उन्हें ग्रहण करने के लिए उनसे दूसरी बार आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

सूत्र ४३

निग्गंथि च णं वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा,

णिक्खंति समाणि केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवनिमंतेज्जा कप्पइ से सागारकडं गहाय पवित्तिणिपायमूले ठवेत्ता दोच्चंपि उग्गहमणुण्णवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥४३॥

विचार भूमि या स्वाध्याय भूमि के लिए (उपाश्रय से या ग्राम से) बाहर निकलती हुई निर्ग्रन्थी को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल, पात्र-बन्धन-वस्त्र या रजोहरण लेने के लिए कहे तो वस्त्रादि को 'साकारकृत' ग्रहण कर, उन्हें प्रवर्तिनी के चरणों में रखकर तथा उन्हें ग्रहण करने के लिए उनसे दूसरी बार आज्ञा लेकर उसे अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—उक्त दोनों सूत्रों का निर्ग्रन्थ के लिए लिखे गये विशेषार्थ के समान ही जानना चाहिए और साध्वी को उसी प्रकार देने वाले श्रावक से तीन प्रश्न पूछना और सन्तोषकारक उत्तर मिलने पर वस्त्रादि लेकर अपनी प्रवर्तिनी के पाद-मूल में रखना चाहिए। यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि प्रवर्तिनी उस साध्वी के द्वारा लाये गये वस्त्रादि को सात दिन तक अपने पास रखती है और उसकी यतना से परीक्षा करती है कि यह विद्या, संमोहन-चूर्ण, मंत्र आदि से तो मंत्रित नहीं है ? यदि उसे वह निर्दोष प्रतीत होता है तो वह लाने वाली साध्वी को, या उसे आवश्यकता न होने पर अन्य साध्वी को देती है। वह यह भी देखती है कि देने वाला व्यक्ति युवा, विधुर, व्यभिचारी या दुराचारी तो नहीं है और जिसे दिया गया है, वह युवती और नवदीक्षिता तो नहीं है। यदि इनमें से कोई भी कारण दृष्टिगोचर होता है तो प्रवर्तिनी उसे वापस करा देती है। यदि वैसा कोई कारण नहीं होता है तो उसे या अन्य साध्वी को दे देती है। इतनी परीक्षा का कारण निर्युक्तिकार ने यह बताया है कि स्त्रियाँ प्रकृति से ही अल्पधैर्यवाली होती हैं, और दूसरे के प्रलोभन से शीघ्र लुब्ध हो जाती है।

यद्यपि सूत्र में साध्वी को श्रावक से साकारकृत रूप से वस्त्रादि लेने का विधान किया गया है, पर भाष्यकार इसका खुलासा करते हुए लिखते हैं कि उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि साध्वी किसी भी गृहस्थ से स्वयं वस्त्रादि नहीं लेवे। जब भी उसे वस्त्रादि की आवश्यकता हो, वह अपनी प्रवर्तिनी से कहे अथवा गणधर या आचार्य से कहे। आचार्य गृहस्थ के यहाँ से वस्त्र लावे और सात दिन तक अपने पास रखे। तत्पश्चात् उसे धोकर किसी साधु को

ओढ़ावे । इस प्रकार परीक्षा करने पर यदि वह निर्दोष ज्ञात हो तो वह प्रवितनी को दे और वह उसे लेकर उस साध्वी को दे जिसे कि उसकी आवश्यकता है । यदि कदाचित् गणधर या आचार्य समीप न हों तो प्रवर्तिनी गृहस्थ के यहाँ से वस्त्र लावे और उक्तविधि से परीक्षा कर साध्वी को देवे । यदि कदाचित् ऐसा भी अवसर आ जाय कि गोचरी, विचारभूमि या विहारभूमि को आते या जाते समय कोई गृहस्थ किसी साध्वी को वस्त्र लेने के लिए कहे, तब उसे साकारकृत रूप से लेकर प्रवर्तिनी को आकर देना चाहिए और वह परीक्षा करके उस साध्वी को देवे ।

रात्रिभक्तप्रकृतम्

सूत्र ४४

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
राओ वा वियाले वा,
असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा पडिग्गाहेत्तए,
नऽन्नत्थ एगेणं पुव्वपडिलेहिएणं सेज्जासंथारएणं ॥४४॥

रात्रि-भक्त प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को रात्रि में या विकाल में अशन-पान खादिम और स्वादिम लेना नहीं कल्पता है । केवल एक पूर्वप्रतिलेखित शय्या-संस्तारक को छोड़कर ।

विशेषार्थ—कुछ आचार्य रात्रि का अर्थ सन्ध्या काल करते हैं और कुछ आचार्य विकाल का अर्थ सन्ध्याकाल करते हैं । टीकाकार ने निरुक्तिकार के दोनों ही अर्थ संगत कहे हैं । अतः रात में या सन्ध्या के समय अपवाद रूप शय्या संस्तारक के सिवाय रात्रि में या सन्ध्या के समय भक्त-पान करना नहीं कल्पता है ।

शंका—इन दोनों सूत्रों में से पहले सूत्र पर यह शंका होती है कि साधु के लिए बताये गये ४२ दोषों में तो 'रात्रि भोजन' नाम का कोई दोष बताया नहीं गया है, फिर इस सूत्र द्वारा उसका निषेध क्यों बताया जा रहा है ?

समाधान—यद्यपि ४२ दोषों में 'रात्रि भोजन' का निषेध नहीं है, तथापि दशवैकालिक—सूत्र के छज्जीवनिकाय नामक अध्ययन में 'राइभोयण-

वेरमण' नामक छठे व्रत का स्पष्ट विधान है। अतएव साधु को किसी भी प्रकार का भक्त-पान रात्रि में लेना नहीं कल्पता है। इसके अतिरिक्त दिन के समय भी जिस स्थान पर अन्धकार होवे तो वहाँ पर भी जब साधु को भोजन ग्रहण करना नहीं कल्पता है तो अन्धकार से परिपूर्ण रात्रि में तो उसे ग्रहण करना कैसे कल्प सकता है? कभी नहीं।

शंका—उक्त छट्ठे रात्रि-भक्त व्रत में रात में खाने-पीने का निषेध (त्याग) किया है, पर रात में भक्त-पान को लाने में क्या दोष है?

समाधान—रात्रि में गोचरी के लिए गमनागमन करने पर षट्कायिक जीवों की विराधना होती है, उनकी विराधना में संयम की विराधना होती है और संयम की विराधना से आत्म-विराधना होती है। इसके अतिरिक्त रात में विचरते हुए कोई चोर समझकर पकड़ ले, गृहस्थ के घर जाने पर वहाँ अनेक प्रकार की दुर्घटनाएँ और आशंकाएँ हो सकती हैं। (इन सब का निर्युक्तिकार ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है।) इन सब कारणों से रात्रि में गोचरी के लिए गमनागमन करने पर अनेक दोष सम्भव हैं। अतः रात्रि में भक्त-पान लाना भी नहीं चाहिए।

शंका—जब रात्रि में गमनागमन करने पर उक्त दोष सम्भव है तब शय्या-संस्तारक को छोड़कर, ऐसा विधान सूत्र में क्यों किया गया?

समाधान—उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि रात में किसी भी कार्य के लिए साधु को गमनागमन नहीं करना चाहिए। किन्तु यह सूत्र अपवाद मार्ग का प्ररूपक है। इसका अभिप्राय यह है कि साधुजन दिन में बाहर से विहार करते हुए गाँव में पधारें। उन्हें कोई ठहरने के योग्य स्थान नहीं मिला। जो स्थान ठहरने के योग्य दिखा, उसका स्वामी नहीं मिला। तब साधु यह आगार करके ठहर जाते हैं कि सायंकाल तक स्वामी के आजाने पर उसकी आज्ञा ले लेंगे। सायंकाल के समय उसके आने पर उससे आज्ञा लेने को जाना आवश्यक है अन्यथा अचौर्यव्रत भंग आदि अनेक दोष लगते हैं, केवल इस अपेक्षा से रात में या सन्ध्याकाल में जाने का इस सूत्र में विधान किया गया है।

रात्रि-वस्त्रादिप्रकृतम्

सूत्र ४५

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
राओ वा वियाले वा,

वत्थं वा पडिग्गहं वा कम्बलं वा पायपुंछणं वा पडिगाहेत्तए,

नऽन्नत्थ एगाए हरियाहडियाए,

सा वि य परिभुत्ता वा, धोया वा, रत्ता वा घट्ठा वा, मट्ठा वा संपधूमिया वा ॥४५॥

रात्रि-वस्त्रादि प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को रात्रि में या विकाल में वस्त्र, पात्र, कम्बल, पात्र बाँधने का वस्त्र तथा रजोहरण लेना नहीं कल्पता है। केवल एक 'हृताहृतिका' को छोड़कर।

वह परिभुक्त, धौत, रक्त, घृष्ट, मृष्ट या सम्प्रधूमित भी कर दी गयी हो (लोभी रात्रि में लेना कल्पता है।)

विशेषार्थ—ग्रामानुग्राम विचरते समय कोई चोर आदि किसी साधु या साध्वी के किसी वस्त्र को छीन ले जावें या उपाश्रय से चुरा ले जावे। कुछ समय बाद ले जाने वाले को यह सद्बुद्धि पैदा हो कि मुझे साधु या साध्वी का यह वस्त्र चुराना या छीनना नहीं चाहिए था। तदनन्तर वह सन्ध्या या रात के समय आकर देवे, या साधु को दिख सके, ऐसे वृक्ष या झाड़ी पर डाल जावे तो ऐसे वस्त्र के ग्रहण करने को 'हृताहृतिका' कहते हैं। पहले हरी गयी, पीछे आहृत की गयी वस्तु 'हृताहृतिका' कही जाती है। वह हृताहृतिक वस्त्र कैसा हो, इसका स्पष्टीकरण सूत्र में परिभुक्त आदि पदों से किया गया है, जिनका अर्थ इस प्रकार है :

परिभुक्त—उस वस्त्र को ले जाने वाले ने यदि उसे ओढ़ने आदि के उपयोग में ले लिया हो।

धौत—जल से धो लिया हो।

रक्त—पाँच प्रकार के रंगों में से किसी रंग से रंग लिया हो,

घृष्ट—वस्त्र पर के चिह्न-विशेषों को घिसकर मिटा दिया हो।

मृष्ट—मोटे या खुरदरे कपड़े को द्रव्य-विशेष से युक्त कर कोमल बना दिया हो।

अथवा **सम्प्रधूमित**—सुगन्धित धूप आदि से सुवासित कर दिया हो।

इन उक्त प्रकारों में से किसी भी प्रकार का वस्त्र यदि ले जाने वाला व्यक्ति रात में लाकर भी वापस देवे तो साधु और साध्वी उसे ग्रहण कर सकते हैं।

इस अपहृत अपने वस्त्र के अतिरिक्त यदि कोई नवीन वस्त्र, प्रतिग्रह, पादप्रोञ्छन आदि सन्ध्याकाल या रात में लाकर देवे तो उसे लेना साधु या साध्वी को नहीं कल्पता है।

सूत्र में 'हरियाहडियाए' ऐसा पाठ है जिसका निर्युक्तिकार ने "हरिऊण य आहडिया, छूढा हरिएसु वा हट्टु" इस प्रकार से उसके दो अर्थ किये हैं।

प्रथम अर्थ के अनुसार वह स्वयं आकर देवे और दूसरे अर्थ के अनुसार वह यदि 'हरितकाय' (वृक्ष-झाड़ी आदि) पर डाल जाय और जिसका वह वस्त्र हो उसे समीप में होने के कारण चन्द्र के प्रकाश आदि में दिख जावे तो साधु या साध्वी सन्ध्या या रात के समय जाकर उसे ला सकता है।

अथवा उसे कोई अन्य पुरुष उठाकर और यह अमुक साधु या साध्वी का है, ऐसा समझ करके लाकर देवे तो जिसका वह वस्त्र है, वह उसे ग्रहण कर सकता है।

अध्वप्रकृतम्

सूत्र ४६

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
राओ वा वियाले वा,
अद्धाणगमणं एत्तए ॥४६॥

अध्व प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को रात्रि में या विकाल में मार्ग-गमन करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ४७

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
राओ वा वियाले वा,
संखडिं वा संखडिपडियाए अद्धाणगमणं एत्तए ॥४७॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को रात्रि में या विकाल में संखडि में जाना या संखडि के लिए (कहीं अन्यत्र) जाना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—रात्रि में या सन्ध्याकाल में साधु और साध्वियों को मार्ग-गमन करने का प्रथम सूत्र द्वारा सर्वथा निषेध किया गया है, क्योंकि उस समय गमन करने पर मार्ग पर चलने वाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः

ईर्यासमिति का पालन नहीं हो सकता है और उसे पालन न होने से संयम की विराधना होती है तथा तीर्थंकरों की रात्रि-गमन-निषेध की आज्ञा का उल्लंघन भी होता है। इसके अतिरिक्त पैरों में काँटे आदि लगने से, ठोकर खाकर गिरने से या गड्ढे में पड़ जाने से आत्म-विराधना भी होती है, साँप आदि के द्वारा डँसने या शेर-चीते आदि के द्वारा खाये जाने की भी सम्भावना रहती है, इसलिए रात्रि में गमन करने का सर्वथा निषेध किया गया है।

दूसरे सूत्र द्वारा संखडी में जाने का निषेध किया गया है।

भोज या जीमनवार-विशेष को संखडी कहते हैं।

संखडी की निरुक्ति करते हुए बताया गया है कि षट्कायिक जीवों की आयु का समग्र रूप से या प्रचुर परिमाण में जहाँ पर खण्डन (उपमर्दन) हो, उसे संखडी कहते हैं। यह संखडी विभिन्न देशों में विभिन्न मतावलम्बियों द्वारा सामूहिक रूप से विभिन्न उत्सवों के अवसर पर प्रायः रात्रि में की जाती है। उसे देखने या उसमें निष्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के भक्त-पान, मिष्ठान्न आदि को लेने की इच्छा से साधु या साध्वी को रात्रि में या सन्ध्याकाल में नहीं जाना चाहिए।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सनिर्युक्ति-लघुभाष्य-वृत्तिक बृहत्कल्प सूत्र में "संखडिं वा संखडिपडियाए इत्तए" इतना ही सूत्र मुद्रित है और मुनिश्री घासीलालजी द्वारा प्रकाशित-सम्पादित प्रति में "नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा संखडिं वा संखडिपडियाए अद्धाणगमणं एत्तए" इस प्रकार यह सूत्र मुद्रित है। प्रस्तुत संस्करण में निर्युक्ति, टीका एवं छेद सूत्रत्रय के आधार पर यहाँ पूर्ण सूत्र दिया गया है।

विचारभूमि-विहारभूमिप्रकृतम्

सूत्र ४८

नो कप्पइ निग्गंथस्स एगाणियस्स,
राओ वा वियाले वा,
बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा॥

विचारभूमि-विहारभूमि प्रकरण

अकेले निर्ग्रन्थ को रात्रि में या विकाल में विचार-भूमि या विहार-भूमि में जाने के लिए उपाश्रय से बाहर आना-जाना नहीं कल्पता है।

सूत्र ४९

कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा,
राओ वा वियाले वा,
वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा,
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥४९॥

एक या दो निर्ग्रन्थों को साथ लेकर निर्ग्रन्थ को रात्रि में या विकाल में विचार-भूमि या विहार-भूमि में जाने के लिए उपाश्रय से बाहर जाना-आना कल्पता है।

विशेषार्थ—मल-मूत्र क्षेपण करने के स्थान को विचार-भूमि कहते हैं और स्वाध्याय के स्थान को विहार-भूमि कहते हैं। रात्रि के समय या संध्या काल में यदि किसी साधु को मल-मूत्र-विसर्जन की आवश्यकता प्रतीत हो तो उसे अकेले अपने स्थान से बाहर विचार-भूमि में नहीं जाना चाहिए।

इसी प्रकार उक्त काल में यदि स्वाध्यायार्थ विहारभूमि में जाने की इच्छा हो तो भी उपाश्रय से बाहर अकेले नहीं जाना चाहिए। किन्तु वह एक या दो साधुओं के साथ जा सकता है।

अकेले जाने का निषेध इसलिए किया गया है कि कोई कुलटा स्त्री उसे अकेला देखकर उससे काम याचना करे, उस पर उपसर्ग कर दबाव डाले और साधु का चित्त विचलित हो जाय तो संयम की विराधना सम्भव है।

अथवा ग्राम-रक्षक उसे चोर समझकर पकड़ लेवें, मार-पीट करने लग जावें, या जंगली जानवर उस पर आक्रमण कर देवें तो आत्म-विराधना भी सम्भव है।

इन सब कारणों से अकेले साधु को रात्रि के समय या विकाल में उपाश्रय से बाहर गमन करने का निषेध किया गया है।

इसी प्रकार रात्रि या विकाल में बाहर से उपाश्रय में प्रवेश (आगमन) करने पर भी उक्त दोषों की सम्भावना है। इसीलिए रात्रि में अकेले गमनागन का सर्वथा निषेध किया गया है। किन्तु दो या तीन साधुओं के साथ जाने या आने में उक्त दोषों की सम्भावना नहीं रहती है अतः उनके साथ जाने और आने का विधान किया गया है।

सूत्र ५०

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए,
राओ वा वियाले वा,
वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा,
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥५०॥

अकेली निर्ग्रन्थी को रात्रि में या विकाल में विचारभूमि या विहारभूमि में जाने के लिए उपाश्रय से वाहर जाना-आना नहीं कल्पता है।

सूत्र ५१

कप्पइ से अप्पविइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा,
राओ वा वियाले वा,
वहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा,
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥५१॥

एक दो या तीन निर्ग्रन्थियों को साथ लेकर निर्ग्रन्थी को रात्रि में या विकाल में विचार-भूमि या विहार-भूमि में जाने के लिए उपाश्रय से वाहर जाना-आना कल्पता है।

विशेषार्थ—जो दोष अकेले साधु के रात में वाहर जाने-आने में ऊपर वतलाये गये हैं, वे सभी यहाँ पर भी जानना चाहिए। केवल कुलटा स्त्री के स्थान पर यहाँ व्यभिचारी पुरुष लेना चाहिए। साध्वी को तीन के साथ वाहर जाने-आने का विशेष उल्लेख यहाँ पर किया गया है। शेष सव सूत्रार्थ ऊपर के विशेषार्थ के अनुसार ही जानना चाहिए।

आर्यक्षेत्रप्रकृतम्

सूत्र ५२

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—
पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए,
दक्खिणेणं जाव कोसम्वीओ एत्तए,
पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ एत्तए,
उत्तरेणं जाव कुणालाविसयाओ एत्तए।
एयावयाव कप्पइ,
एयावयाव आरिए खेत्ते।

नो से कप्पइ एत्तो बहिं,
तेण परं जत्थ नाण-दंसण-चरित्ताइं उस्सप्पन्ति ।
त्ति बेमि ॥५२॥

आर्य क्षेत्र प्रकरण

निर्ग्रन्थों को और निर्ग्रन्थियों को
पूर्व दिशा में अंग-मगध तक,
दक्षिण दिशा में कोशाम्बी तक,
पश्चिम दिशा में स्थूणा देश तक, और
उत्तर दिशा में कुणाल देश तक जाना कल्पना है ।
इतना ही आर्य क्षेत्र है ।
इससे बाहर जाना नहीं कल्पता है ।
इस सीमा से बाहर यदि ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र-वृद्धि की सम्भावना हो तो जा सकते हैं ।

विशेषार्थ—प्राचीन भारतवर्ष में साढ़े पच्चीस आर्यदेश माने जाते थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. मगध, २. अंग, ३. बंग, ४. कलिंग, ५. काशी, ६. कोशल, ७. कुरु, ८. सौर्य, ९. पांचाल, १०. जांगल, ११. सौराष्ट्र, १२. विदेह, १३. वत्स, १४. संडिब्भ, १५. मलय, १६. वच्छ, १७. अच्छ, १८. दशार्ण, १९. चेदि, २०. सिन्धु-सौवीर, २१. सूरसेन, २२. भृंग, २३. कुणाल, २४. कोटिवर्ष, २५. लाढ और केकय अर्ध। इनमें साधु-साध्वियों को जाना या विहार करना कल्पता है ।

प्रकृत सूत्र में इनकी सीमा रूप से पूर्व दिशा में अंगदेश (जिसकी राजधानी चम्पा नगरी रही है) मगधदेश (जिसकी राजधानी राजगृह रही है) तक ।

दक्षिण दिशा में वत्सदेश (जिसकी राजधानी कौशाम्बी रही है) तक ।

पश्चिम दिशा में स्थूणादेश तक ।

उत्तर दिशा में कुणाल देश (जिसकी राजधानी श्रावस्ती नगरी रही है) तक जाने का विधान साधु-साध्वियों के लिए प्रकृत सूत्र में किया गया है । इसका कारण यह बतलाया गया है कि इन चारों दिशाओं की सीमा के भीतर ही तीर्थंकरों के जन्म, निष्क्रमण आदि की महिमा हुई है या होती है यहीं पर केवल ज्ञान-दर्शन को उत्पन्न करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरादि

महापुरुष धर्म का उपदेश देते हैं और यहीं पर भव्यजीव प्रतिबोध को प्राप्त होते हैं और जिनवरों से धर्मश्रवण कर अपना संशय दूर करते हैं।

इसके अतिरिक्त साधु-साध्वियों को यहाँ पर भक्त-पान एवं उपधि सुलभता से प्राप्त होती है और यहाँ के श्रावक जन साधु-साध्वियों के आचार-विचार के ज्ञाता होते हैं। अतः उन्हें इन आर्य क्षेत्रों में ही विहार करना चाहिए।

अपवाद-रूप में उक्त आर्य क्षेत्र से बाहर भी विहार करने का विधान किया गया है—यदि वहाँ जाने पर किसी को विशिष्ट धर्म लाभ की सम्भावना हो, या वहाँ पर पूर्व में गये हुए श्रुतस्थविर विचर रहे हों तो उनके समीप ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि के लिए साधु-साध्वी जा सकते हैं।

पढमो उद्देसओ समत्तो

बीओ उद्देसओ

उपाश्रयसूत्रप्रकृतम्

सूत्र १

उवस्सयस्स अंतोवगडाए
सालीणि वा, वीहीणि वा, मुग्गाणि वा,
मासाणि वा, तिलाणि वा, कुलत्थाणि वा,
गोधूमाणि वा, जवाणि वा, जवजवाणि वा,
उक्खित्ताणि[1] वा, विक्खित्ताणि वा,
विइकिण्णाणि[2] वा, विप्पइण्णाणि वा
नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा,
अहालंदमवि वत्थए ॥१॥

उपाश्रय प्रकरण

उपाश्रय के परिक्षेप या आँगन में शालि, व्रीहि, मूंग, उड़द, तिल, कुलथ, जौं या जवजव की—

भिन्न भिन्न राशियाँ हों,
राशियाँ परस्पर सम्बन्धित हों,
सभी धान्य मिले हुए हों, या
सभी धान्य बिखरे हुए हों, तो

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहाँ 'यथालन्दकाल' तक भी वसना नहीं कल्पता है।

---

१ उक्खिन्नाणि वा, विखिन्नाणि वा।
२ विकिन्नाणि वा।

विशेषार्थ—उपाश्रय, प्रतिश्रय, शय्या, आलय, वसति, निसीहिया और स्थानक ये सभी पर्यायवाची नाम हैं।

वगडा वाड़े, आँगन या उपाश्रय के मध्य भाग का नाम है।

जिस उपाश्रय के मध्य भाग में शालिधान्य, व्रीहिधान्य, मूंग, उड़द, तिल, कुलथी, गेहूँ, जौ और यवजव (ज्वार, वाजरा आदि) धान्य उक्षिप्त हों (पृथक्-पृथक् राशि (ढेर) हो, विक्षिप्त हों (धान्यों की राशियाँ एक ओर से मिली हों) व्यतिकीर्ण हों (सर्व ओर से सभी राशियाँ मिली हों) और विप्रकीर्ण हों सभी धान्यों के वीज सर्व ओर फैले हुए हों।) तो ऐसे उपाश्रय या स्थानक में साधु या साध्वी को 'यथालन्दकाल' भी ठहरना नहीं कल्पता है।

यथालन्द नाम काल विशेष का है। वह तीन प्रकार का होता है—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट।

गीले हाथ की रेखा के सूखने में जितना समय लगता है, उतने समय को जघन्य यथालन्दकाल कहते हैं।

पाँच दिन-रात को उत्कृष्ट यथालन्दकाल कहते हैं और इन दोनों के मध्यवर्ती काल को मध्यम यथालन्दकाल कहते हैं।

जिस उपाश्रय के मध्य भाग में उक्त प्रकार के धान्य रखे हुए, विखरे हुए या पड़े हुए हों तो वहाँ पर जघन्य यथालन्दकाल भी रहना नहीं कल्पता है। क्योंकि पहले तो उनके ऊपर से जाने-आने में सचित वीजों की विराधना से संयम की विराधना सम्भव है, दूसरे उक्त प्रकार के धान्यों पर चलते हुए फिसलकर गिरने से आत्म-विराधना भी सम्भव है, अतः साधु-साध्वियों को वहाँ क्षणभर भी नहीं ठहरना चाहिए।

निर्युक्तिकार ने उक्त प्रकार के उपाश्रय की विस्तृत चर्चा करते हुए लिखा है कि यदि प्रयत्न करने पर भी उस ग्राम या नगर में अन्य उपाश्रय न मिले और कारण-विशेष से वहाँ ठहरना ही पड़े तो यथासम्भव रजोहरणादि से प्रमार्जन कर यतनापूर्वक उत्कृष्ट 'यथालन्दकाल' अर्थात् पाँच दिन तक रह सकते हैं।

सूत्र २

अह पुण एवं जाणिज्जा—

नो उक्खित्ताइं, नो विक्खित्ताइं,

नो विइकिण्णाइं, नो विप्पकिण्णाइं,
रासिकडाणि वा, पुंजकडाणि वा,
भित्तिकडाणि वा, कुलियाकडाणि वा,
लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा, पिहियाणि वा,
कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा,
हेमन्त-गिम्हासु वत्थए ॥२॥

यदि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ यह जान जायें कि (उपाश्रय के परिक्षेप या आँगन में) शालि यावत् जवजव उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण और विप्रकीर्ण नहीं हैं किन्तु राशिकृत, पुंजकृत, भित्तिकृत, कुलिकाकृत, लांछित, मुद्रित या पिहित हैं तो उन्हें हैमन्त और ग्रीष्म ऋतु में वहाँ (उपाश्रय में) वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—यदि साधु-साध्वियों को दिखे कि उपाश्रय के मध्य में या आँगन में पूर्व-सूत्रोक्त शालि-व्रीहि आदि धान्य उत्क्षिप्त, विक्षिप्त आदि के रूप में तो नहीं हैं किन्तु गोलाकार राशि में स्थित हैं।

लम्बे ढेर रूप पुंज में अवस्थित हैं,

भित्ति के सहारे रखे हुए हैं,

कुलिका (मिट्टी से बने गोल या चौकोर पात्र-विशेष मंडूलिया आदि) में रखे हुए हैं।

ढेर करके भस्म (राख) आदि से लांछित (चिह्नित) हैं,

गोबर आदि से मुद्रित (लिम्पित-मुंदे हुए) हैं।

पिहित (बाँस से बनी चटाई, टोकरी या थाली आदि से ढँके हुए) हैं तो शीत एवं ग्रीष्मकाल में अपने कल्प के अनुसार वैसे उपाश्रय में साधु और साध्वियों को ठहरना कल्पता है, किन्तु वर्षाकाल में वैसे उपाश्रय में ठहरना उन्हें नहीं कल्पता है।

यहाँ यह विशेष जानने योग्य यह है कि सूत्र में गीतार्थ और अगीतार्थ साधु-आदि का कोई उल्लेख नहीं है फिर भी निर्युक्तिकार ने लिखा है कि सूत्रोक्त उपाश्रय में गीतार्थ साधु-साध्वियों को ही ठहरने की अनुज्ञा है; अगीतार्थों को नहीं। इस पर शंका उठाई गई है कि जब सूत्र में गीतार्थ और अगीतार्थ का कोई विधि या प्रतिषेध रूप से स्पष्ट उल्लेख नहीं है, तब आप ऐसा विभाजन कैसे कर रहे हैं ?

उक्त आशंका का समाधान करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि सूत्र में कितने ही अर्थ अव्याकृत (बिना किसी विशेषता के अर्थात् सामान्य रूप से प्रतिपादित) होते हैं।

अर्थ का व्याख्यान करने वाले आचार्य उसके रहस्य का उद्घाटन करते हैं। उन्होंने इसके लिए एक युक्ति भी दी है कि यदि ऐसा न होता तो कालिकानुयोग आदि की रचना ही क्यों की जाती ?

वे यह भी लिखते हैं कि कोई सूत्र उत्सर्ग रूप होता है, कोई अपवाद रूप और कोई उभयरूप। इसका निर्णय गीतार्थ आचार्यों के द्वारा किये गये अर्थ के व्याख्यान से ही होता है। अतः सूत्र में जो उक्त प्रकार के उपाश्रय में रहने का विधान है वह गीतार्थ साधु और साध्वियों के लिए ही जानना चाहिए।

सूत्र ३

अह पुण जाणेज्जा—
नो रासिकडाइं, नो पुंजकडाइं, नो भित्तिकडाइं, नो कुलियाकडाइं,
कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा,
मालाउत्ताणि वा, ओलित्ताणि वा, लित्ताणि वा,
पिहियाणि वा, लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा,
कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा,
वासावासं वत्थए ॥३॥

यदि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ यह जानें कि (उपाश्रय के परिक्षेप या आँगन में) शालि यावत् जवजव राशिकृत पुंजकृत भित्तिकृत या कुलिकाकृत नहीं है, किन्तु कोठे में या पल्य में भरे हुए हैं, मंच पर या माले पर सुरक्षित हैं, मिट्टी या गोबर से लिपे हुए, बरतन से ढँके हुए, चिह्न किये हुए या मुहर लगे हुए हैं तो उन्हें वहाँ वर्षावास में बसना कल्पता है।

विशेषार्थ—वर्षाकाल में साधु या साध्वियों को ठहरने के लिए कोई धान्यादि से सर्वथा रहित स्थानक न मिले तो ऐसे स्थानक पर भी ठहर सकते हैं जहाँ पर कि शालि, व्रीहि आदि धान्य उसके भीतर राशि रूप में, या भित्ति आदि के सहारे नहीं रखे हैं, किन्तु किसी कोठा या कोठी के भीतर अच्छी तरह से गुप्त (सुरक्षित) रखे हैं, या पल्यागुप्त हैं।

काठ, वंश-दल आदि से निर्मित और गोवर-मिट्टी आदि से लिपे हुए गोलाकार बनाये गये धान्य रखने के पात्र-विशेष को पल्य कहते हैं ऐसे पल्य के भीतर रखे हुए धान्य को पल्यागुप्त कहते हैं।

अथवा मंचागुप्त हैं, तीन या चार खम्भों के ऊपर बनाये गये मंचान के ऊपर बाँस की कमचियों से बनाये गये गोलाकार और चारों ओर से गोवर-मिट्टी से लिप्त ऐसे मंच में सुरक्षित रखे गये हैं।

अथवा मालागुप्त हैं अर्थात् स्थानक की ऊपरी मंजिल में द्वार आदि को अच्छी तरह बन्द करके रखे गये हैं, या जहाँ पर भी धान्य रखा गया है, वह स्थान मिट्टी से छाप दिया गया है, गोवर से लीपा गया है, ढँका हुआ है, चिह्नित किया गया है और मूंद दिया गया है, जिसके भीतर रखा गया धान्य स्वयं बाहर नहीं निकल सकता है और न वर्षाकाल में जिसके बाहर निकाले जाने की सम्भावना है, ऐसे स्थानक में साधु या साध्वीगण वर्षाकाल (चौमासे) में ठहर सकते हैं। किन्तु भाष्यकार कहते हैं कि उक्त प्रकार के उपाश्रय में ठहरने का विधान केवल गीतार्थ साधु और साध्वियों के लिए ही है, अगीतार्थ साधु-साध्वियों के लिए नहीं। इसका कारण बतलाते हुए वे कहते हैं कि यदि अगीतार्थ साधु ऐसे धान्य से भरे हुए उपाश्रय में ठहरें और उन्हें ज्ञात हो कि यहाँ पर ऐसे सुगन्धित कलमशालि (वासमती चावल) आदि रखे हैं, जिसकी प्रशंसा ही हमने आज तक सुनी है, किन्तु जिन्हें हमने खाया आज तक भी नहीं है, अतः इनका भी आस्वादन करना चाहिए। ऐसा विचार कर वह उस धान्य विशेष को उस पल्य, मंच आदि में से निकालकर किसी वृद्धा स्त्री को देकर कहे—इन्हें पकाओ और हमें गोचरी के समय दो। ऐसे भात आदि को खाते समय उसका स्वामी आ जाय और अपने बन्द पल्य आदि को खुला देखे, उसी धान्य के भात को देखे तो अनेक प्रकार के अनर्थ सम्भव हैं। अतः भाष्यकार ने गाथा ३३६३ में ऐसे धान्य रखे हुए स्थानक में अगीतार्थ साधु को ठहरने का स्पष्ट निषेध किया है।

विकटसूत्रम्

सूत्र ४

उवस्सयस्स अंतोवगडाए,
सुरावियडकुम्भे वा, सोवीरकवियडकुम्भे वा, उवनिक्खित्ते सिया,
नो कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा,
अहालंदमवि वत्थए।

हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे णो लभेज्जा,
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
(नो से कप्पइ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वत्थए)[1]।
जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ,
से सन्तरा छेए वा परिहारे वा ॥४॥

विकट सूत्र

उपाश्रय के परिक्षेप में सुरा और सौवीर से भरे कुम्भ रखे हुए हों तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहाँ 'यथालन्दकाल' वसना नहीं कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात वसना कल्पता है।

एक या दो रात से अधिक वहाँ वसना नहीं कल्पता है।

जो वहाँ एक या दो रात से अधिक वसता है वह जितने दिन-रात वहाँ वसे उतने दिन-रात का दीक्षा छेद या परिहार तपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—चावल आदि की पीठी से जो मदिरा बनायी जाती है वह सुरा कही जाती है और दाख-खजूर आदि से जो मद्य बनाया जाता है वह सौवीर मद्य कहा जाता है। ये दोनों ही प्रकार के मद्य जिस स्थान पर पात्रों में रखे हुए हों, ऐसे स्थान पर अगीतार्थ साधु-साध्वी को यथालन्दकाल भी नहीं ठहरना चाहिए। यदि ठहरता है तो वह चतुर्लघुक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र में जो एक रात या दो रात मद्य रखे स्थानक में ठहरने का विधान किया गया है वह गीतार्थ साधु के लिए है, ऐसा भाष्यकार ने स्पष्ट किया है और यह भी स्पष्ट किया है कि यदि उस ग्राम या नगरादि में अन्वेषण करने पर भी अन्य कोई साधुजनों के उचित ठहरने का स्थान न मिले, तभी मद्य-कुम्भों से भरे स्थान में ठहरे और वह भी एक या दो रात ही। यदि इससे अधिक समय तक ठहरता है तो वह उतने दिन की दीक्षा-पर्याय के छेदका पात्र होता है या मासलघुक आदि तपोविशेष रूप परिहार तप का पात्र होता है।

---

1 आ० पा० प्रत्योः "नो से……परं वत्थए" इति पाठो नास्ति।

अगीतार्थ साधु को जो ठहरने का सर्वथा निषेध किया गया है, उसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि उस स्थान पर रखे हुए मद्यों की गन्ध से किसी का मन चल जाय कि मैंने गृहस्थावस्था में अन्य मद्यों का आस्वाद लिया है, पर यहाँ पर रखे इस मद्य का तो आस्वाद नहीं लिया है अतः इसका भी आस्वाद लेना चाहिए, ऐसा समझकर वह अन्य साधुओं के सोते समय वन्द पात्र में से किसी प्रकार निकाल कर उसे पीता है तो रात्रि-भोजन व्रत का भंग करता है एवं विकृतिभोजी होता है तथा उसे पीते हुए देखकर किसी अन्य अगीतार्थ साधु का मन भी विचलित हो सकता है और वह भी भ्रष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह या उपाश्रय का स्वामी उसकी या सारे संघ की निन्दा भी कर सकता है, इत्यादि अनेक दोषों के कारण अगीतार्थ साधुओं को ऐसे स्थानक में ठहरने का सर्वथा निषेध किया गया है।

उदकसूत्रम्

सूत्र ५

उवस्सयस्स अंतोवगडाए,
सीओदग-वियडकुम्भे वा, उसिणोदगवियडकुम्भे वा, उवनिक्खित्ते सिया,
नो कप्पइ निग्गंयाण वा, निग्गंथीण वा,
अहालंदमवि वत्थए।
हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा,
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
(नो से कप्पइ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वत्थए)।
जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ,
से सन्तरा छेए वा परिहारे वा ॥५॥

उदक सूत्र

उपाश्रय के परिक्षेप में शीतोदक विकृत और उष्णोदकविकृत कुम्भ रखे हुए हों तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहाँ 'यथालन्दकाल' वसना नहीं कल्पता है।

कदाचित गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात वसना कल्पता है।

एक या दो रात से अधिक वहाँ वसना नहीं कल्पता है।

जो वहाँ एक या दो रात से अधिक वसता है वह जितने दिन-रात वहाँ वसे उतने दिन-रात का दीक्षा-छेद या परिहार तपरूप प्रायश्चित का पात्र होता है ।

विशेषार्थ—अग्नि पर उबालने से या क्षार आदि डालने से जिसका वर्ण विकार को प्राप्त हो गया है ऐसे प्रासुक ठण्डे जल के भरे हुए घड़े को शीतोदक विकृत कुम्भ कहते हैं । इसी प्रकार प्रासुक उष्णजल के भरे हुए घड़े को उष्णोदक-विकृत कुम्भ कहते हैं । जिस उपाश्रय में ऐसे एक या दोनों ही प्रकार के जल से भरे घड़े रखे हों, वहाँ पर अगीतार्थ साधु और साध्वियों को यथालन्दकाल भी नहीं ठहरना चाहिए । यदि ठहरता है तो वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है । यदि प्रयत्न करने पर भी जल भरे पात्रों से रहित स्थान न मिले तो गीतार्थ साधु एक या दो रात ठहर सकता है । यदि इससे अधिक दिन रहता है तो उतने ही दिन की दीक्षा के छेद या मासलघु आदि परिहार तप का पात्र होता है ।

अगीतार्थ के ठहरने का सर्वथा निषेध इसलिए किया गया है कि उसके प्यास से पीड़ित होने पर रात में उन घड़ों से लेकर पानी पीने की सम्भावना रहती है, और वैसी स्थिति में उसके व्रत का भंग एवं संघ के वदनाम होने की भी सम्भावना है । किन्तु गीतार्थ साधु के लिए ऐसी सम्भावना नहीं रहती है । फिर भी उसे एक या दो दिन से अधिक रहने का निषेध ही किया गया है । अन्यथा वह भी उक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है ।

ज्योतिःसूत्रम्

सूत्र ६

उवस्सयस्स अंतोवगडाए,
सव्वराइए जोई झियाएज्जा,
नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
अहालंदमवि वत्थए ।
हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा,
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए ।
(नो से कप्पइ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वत्थए) ।
जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ,
से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥६॥

ज्योतिः सूत्र

उपाश्रय के परिक्षेप में सारी रात अग्नि जले तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहाँ 'यथालन्दकाल' बसना नहीं कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात वसना कल्पता है।

एक या दो रात से अधिक वहाँ वसना नहीं कल्पता है।

जो वहाँ एक या दो रात से अधिक वसता है वह जितने दिन-रात वहाँ वसे उतने दिन-रात का दीक्षा-छेद या परिहार तपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए किसी ग्राम या नगर में साधुओं के ठहरने के योग्य निर्दोष उपाश्रय तीन वार अन्वेपण करने पर भी न मिले और ऐसा ही स्थान मिले जहाँ पर कि रात भर अग्नि जलती हो ऐसी लोहारशाला या कुम्भारशाला आदि मिले तो वहाँ पर अगीतार्थ साधु-साध्वी को तो क्षणमात्र भी नहीं ठहरना चाहिए। किन्तु गीतार्थ साधु या साध्वी को तीन वार उस ग्राम में अन्वेषण करने पर भी यदि कल्पनीय उपाश्रय न मिले तो वे मार्ग-जनित थकान से पीड़ित होने पर उस अग्नि-प्रज्ज्वलित कुम्भार-शाला आदि में एक या दो रात रह सकते हैं। इससे अधिक रहने पर वे भी दीक्षा-छेद या परिहार प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

अगीतार्थ साधु-साध्वी को वैसे स्थान पर ठहरने से शीत से पीड़ित होने पर आग से तापने के भाव हो सकते हैं और वैसा करने पर यथासमय स्वाध्याय-प्रतिक्रमणादि भी नहीं हो सकेंगे, इसके अतिरिक्त उस स्थान की प्रमार्जना आदि करने या नहीं करने पर जीव-घात आदि की भी सम्भावना है, अग्नि के स्फुलिंग उड़कर वस्त्रादि पर गिरने से उनके या साधु के जलने की भी सम्भावना है।

इन सब कारणों से अगीतार्थ साधु को ऐसे ज्योति-प्रज्ज्वलित स्थान पर ठहरने का सर्वथा निषेध किया गया है।

गीतार्थ साधु या साध्वी के ठहरने के विधान का कारण यह वतलाया गया है कि वे अपने कर्तव्यों के करने में सदा सावधान रहते हैं, अतः उनके आग से तापने की सम्भावना नहीं है, जागृत रहने के कारण उनके या वस्त्रादि के जलने की सम्भावना भी नहीं है और स्वाध्याय-प्रतिक्रमण नहीं कर सकने

की सम्भावना है। फिर भी गीतार्थ साधु या साध्वी एक-दो रात से अधिक ठहरते हैं तो वे भी सूत्रोक्त प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

प्रदीपसूत्रम्

सूत्र ७

उवस्सयस्स अंतोवगडाए,
सव्वराइए पईवे दिप्पेज्जा,
नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा,
अहालंदमवि वत्थए।
हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे नो लभेज्जा,
एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए।
(नो से कप्पइ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वत्थए)।
जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ,
से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥७॥

प्रदीप सूत्र

उपाश्रय के परिक्षेप में सारी रात दीपक जले तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहाँ 'यथालन्दकाल' वसना नहीं कल्पता है।

कदाचित् गवेषणा करने पर भी अन्य उपाश्रय न मिले तो उक्त उपाश्रय में एक या दो रात वसना कल्पता है।

एक या दो रात से अधिक वहाँ वसना नहीं कल्पता है।

जो वहाँ एक या दो रात से अधिक वसता है वह जितने दिन-रात वहां वसे उतने दिन-रात का दीक्षा-छेद या परिहार तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्रों के समान यहाँ पर भी गीतार्थ साधु या साध्वी को ठहरने का विधान जानना चाहिए, अगीतार्थ साधु या साध्वी का नहीं, क्योंकि वे प्रदीप-प्रकाश वाले स्थान में रहकर अपने आवश्यक कर्तव्य-पालन में प्रमाद-युक्त हो सकते हैं तथा दीपक के निमित्त से उस स्थान पर त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती है, तृण आदि का संस्तारक (शय्या) भी जल सकता है। किसी को प्रकाश में रतिभाव हो सकता है, या किसी को प्रकाश में नींद नहीं आने से अरतिभाव भी हो सकता है। इन सब कारणों से प्रदीप से

प्रकाशित स्थान में अगीतार्थ साधु-साध्वियों को ठहरने का सर्वथा निषेध किया गया है। किन्तु गीतार्थ साधु या साध्वी आदि थकान के कारण कदाचित् ठहर भी जाते हैं तो भी वे अपने आवश्यक कार्यों को यथासमय करने में सावधान रहते हैं और यतना के वरतने के कारण या जागते रहने से संस्तार आदि के जलने की सम्भावना भी नहीं रहती है। फिर भी वे यदि एक या दो रात से अधिक रहते हैं तो सूत्रोक्त प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

पिण्डादिसूत्राणि

सूत्र ८

उवस्सयस्स अंतोवगडाए—

पिण्डए वा, लोयए वा, खीरं वा दहिं वा, नवणीए वा, सप्पि वा, तेल्ले वा, फाणियं वा, पूवे वा, सक्कुली वा, सिहरिणी वा, उक्खित्ताणि वा, वक्खित्ताणि वा, विइगिण्णाणि वा, विप्पइण्णाणि वा, नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, अहालंदमवि वत्थए। ॥८॥

पिण्डादिसूत्र

उपाश्रय की परिधि में या आँगन में पिण्डरूप खाद्य, लोचक-मावा आदि क्षीर, दधि, नवनीत, घृत, तेल, गुड़, मालपुए, मोदक, पूड़ी और श्रीखण्ड शिखरण उत्क्षिप्त विक्षिप्त व्यतिकीर्ण और विप्रकीर्ण हैं तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहाँ 'यथालन्दकाल' वसना भी नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—जिस उपाश्रय के भीतर आँगन या चौक में किसी भी प्रकार के गीले या सूखे खाद्य पदार्थ रखे या बिखरे हुए हों, वहाँ पर साधु या साध्वी को क्षणमात्र भी ठहरना नहीं कल्पता है। यदि कोई ठहरता है तो निर्युक्तिकार के मत से वह चार अनुद्घात मास के प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

निषेध का कारण यह बतलाया गया है कि ऐसे उपाश्रय में जाने-आने पर उनका विनाश सम्भव है, उससे उनके स्वामी के मन में साधुओं के प्रति दुर्भाव उत्पन्न हो सकता है।

अथवा उक्त भोज्य पदार्थों को देखकर साधुओं के मन में खाने की इच्छा हो सकती है, इत्यादि दोषों की सम्भावना से ऐसे उपाश्रय में ठहरने का निषेध किया गया है।

सूत्र ९

अह पुण एवं जाणिज्जा—
नो उक्खित्ताइं नो विक्खित्ताइं,
नो विइगिण्णाणि वा, नो विप्पइण्णाणि वा,
रासिकडाणि वा, पुंजकडाणि वा, भित्तिकडाणि वा, कुलियाकडाणि वा,
लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा, पिहियाणि वा,
कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा हेमंत-गिम्हासु वत्थए ॥९॥

यदि निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियाँ यह जान जायें कि उपाश्रय की परिधि में या आँगन में पिण्डरूप खाद्य यावत् श्रीखण्ड उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण या विप्रकीर्ण नहीं हैं, किन्तु राशिकृत, पुंजकृत, भित्तिकृत, कुलिकाकृत तथा लांछित मुद्रित या पिहित हैं तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को वहाँ हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—यद्यपि सूत्र में गीतार्थ या अगीतार्थ का कोई उल्लेख नहीं है, परन्तु निर्युक्ति, भाष्य एवं टीकाकार उक्त प्रकार के उपाश्रय में गीतार्थ साधु और साध्वी के ही ठहरने और अगीतार्थ के नहीं ठहरने का विधान करते हैं और इसमें कारण बतलाते हैं कि अगीतार्थ साधु-साध्वी को उक्त अनेक प्रकार के खाद्य पदार्थों को देखकर यह अभिलाषा जाग सकती है कि अमुक जाति के इस पदार्थ को तो मैंने आज तक खाया ही नहीं है, अतः इसका भी आस्वाद लेना चाहिए, ऐसा विचार कर वह स्वामी की दृष्टि बचाकर दिन में या रात में खा-पी भी सकता है और उसका भेद प्रकट होने पर संघ की अकीर्ति हो सकती है। किन्तु गीतार्थ साधु-साध्वी ऐसा नहीं कर सकते हैं। अतः उनको ही उक्त प्रकार के उपाश्रय में शीत या उष्णकाल में ठहरना चाहिए, अगीतार्थ साधु-साध्वियों को नहीं।

सूत्र १०

अह पुण एवं जाणिज्जा—
नो रासिकडाइं, जाव नो कुलियाकडाइं,
कोट्ठाउत्ताणि वा, पल्लाउत्ताणि वा, मंचाउत्ताणि वा, मालाउत्ताणि वा,
कुंभिउत्ताणि वा, करभि-उत्ताणि वा, ओलित्ताणि वा, विलित्ताणि वा,
लंछियाणि वा, मुद्दियाणि वा, पिहियाणि वा,
कप्पइ निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥१०॥

यदि वे यह जानें कि पिण्डरूप खाद्य यावत् श्रीखण्ड राशिकृत यावत् कुलिकाकृत नहीं है किन्तु कोठे में या पल्य में भरे हुए हैं, मंच पर या माले पर सुरक्षित हैं, कोठी या वोघी में धरे हुए हैं, जिनके मुख मिट्टी या गोवर से लिप्त हैं, वरतन से ढँके हुए, चिन्ह किये हुए या मुहर लगे हुए हैं तो उन्हें वहाँ वर्षावास करना कल्पता है।

विशेषार्थ—प्रस्तुत सूत्र में गीतार्थ या अगीतार्थ का कोई उल्लेख नहीं होने पर भी भाष्यकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यहाँ पर भी गीतार्थ साधु-साध्वियों के ही ठहरने का विधान जानना चाहिए, अगीतार्थों का नहीं। यदि अगीतार्थ साधु या साध्वी ठहरते हैं तो चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

आगमनगृहादिसूत्राणि

सूत्र ११

नो कप्पइ निग्गंथीणं—

अहे आगमणगिहंसि वा, वियडगिहंसि वा,

वंसीमूलंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, अब्भावगासियंसि वा वत्थए ।।११।।

निर्ग्रन्थियों को आगमन गृह में, चारों ओर से खुले घर में, छप्पर के नीचे, वृक्ष के नीचे या आकाश के नीचे वसना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—जहाँ पर पथिकों का आना-जाना हो ऐसे देवालय, सभा, धर्मशाला, सराय या मुसाफिरखाना आदि को **आगमन गृह** कहते हैं।

केवल ऊपर से ढँके और दो, तीन या चारों ओर से खुले स्थान को **विवृतगृह** कहते हैं।

घर के वाहर वाँस की चटाई आदि से ऊपर की ओर से ढँके और आगे की ओर से खुले ऐसे दालान, ओसारा छपरी, आदि स्थान को—जहाँ पर कि सर्व साधारण जन आकर वैठते हैं—**वंशीमूल** कहते हैं।

वृक्ष के तल भाग को वृक्षमूल कहते हैं और खुले आकाश को या जिसका अधिकांश ऊपरी भाग खुला हो ऐसे स्थान को **अभ्रावकाश** कहते हैं। ऐसे स्थानों पर साध्वियों को किसी भी ऋतु में नहीं ठहरना चाहिए, क्योंकि ऐसे स्थानों पर ठहरने से ब्रह्मचर्य व्रत भंग होने की सम्भावना रहती है। यदि वे ठहरती हैं तो चतुर्गुरुक आदि प्रायश्चित्त की पात्र होती हैं। यह उत्सर्ग मार्ग है। अतः भाष्यकार ने अपवाद मार्ग का निर्देश करते हुए यह भी कहा है कि मार्ग में विहार करते हुए यदि कहीं वीच में ठहरना पड़े और

उस ग्राम में तीन बार अन्वेषण करने पर भी ठहरने के योग्य स्थान न मिले तो जिसका मध्य या भीतरी भाग सुरक्षित हो ऐसे देवालय, सभागृह आदि आगमनगृह में ठहरा जा सकता है। इसी प्रकार आगमनगृह के अभाव में विवृतगृह, वंशीमूल और सघन वृक्षमूल में भी ठहरा जा सकता है। यदि इनमें से कोई भी स्थान ठहरने के लिए नहीं प्राप्त हो तो अभ्रावकाश में भी ऊनी वस्त्र को ओढ़ कर ठहरा जा सकता है। किन्तु यह अपवाद मार्ग-गमन करते हुए रात हो जाने की दशा में ही जानना चाहिए।

सूत्र १२

कप्पइ निग्गंथाणं—
अहे आगमणगिहंसि वा, वियडगिहंसि वा,
वंसीमूलंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥१२॥

निर्ग्रन्थों को आगमन गृह में, चारों ओर से खुले घर में, छप्पर के नीचे, वृक्ष के नीचे या आकाश के नीचे वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—यद्यपि सूत्र में साधुओं को आगमन गृहादि में ठहरने का स्पष्ट निर्देश है, तो भी भाष्यकार कहते हैं कि यह निर्देश अपवाद रूप में मार्ग-गमन करते हुए ही जानना चाहिए। उत्सर्ग रूप से तो उन्हें भी आगमन गृहादि में ठहरना नहीं कल्पता है।

सागारिक-पारिहारिकसूत्रप्रकृतम्

सूत्र १३

एगे सागारिए पारिहारिए,
दो, तिण्णि, चत्तारि, पंच सागारिया पारिहारिया,
एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे निव्विसेज्जा ॥१३॥

सागारिक पारिहारिक प्रकरण

जिस उपाश्रय का एक स्वामी हो वह एक सागारिक पारिहारिक (जिसके यहाँ से भिक्षा लेना निषिद्ध) है।

जिस उपाश्रय के दो, तीन, चार या पाँच स्वामी हों, वे सब सागारिक भी पारिहारिक हैं।

जहाँ देवालय, सभा, प्रपा आदि स्थानों का निर्माण सर्व साधारण के सहयोग से हुआ हो, वहाँ एक को कल्पाक-सागारिक स्थापित करके उसे

पारिहारिक मानना चाहिए और शेष घरों में आहारादि लेने के लिए जाना चाहिए।

विशेषार्थ—अगार नाम घर का है, घर या वसति के स्वामी को सागारिक कहते हैं। सागारिक मनुष्य को ही शय्यातर, शय्याकर, शय्यादाता और शय्याधर भी कहते हैं। जो साधु-साध्वियों को शय्या अर्थात् ठहरने का स्थान, वसति या उपाश्रय देकर अपनी आत्मा को संसार-सागर से तारता है, उसे शय्यातर कहते हैं।

शय्या-वसति आदि को जो बनवाता है, उसे शय्याकर कहते हैं।

जो साधुओं को ठहरने का स्थान रूप शय्या देता है उसे शय्यादाता कहते हैं।

जो वसति या उपाश्रय की छान-छप्पर आदि के द्वारा उसका धारण या संरक्षण करता है अथवा साधुओं को दी गई शय्या के द्वारा नरक में जाने से अपनी आत्मा को धारण करता है, अर्थात् बचाता है, उसे शय्याधर कहते हैं।

यह शय्यातर सागारिक जिस साधु या साध्वी को ठहरने के लिए वसति या उपाश्रयरूप शय्या देवे, साधु को उसके घर का भक्त-पान ग्रहण करने का निषेध किया गया है, अतः उसे **पारिहारिक** कहते हैं। यदि किसी स्थानक या वसति के अनेक (मनुष्य) स्वामी हों तो वे सभी पारिहारिक हैं, अर्थात् उनमें से किसी भी शय्यातर के घर का भक्त-पान साधु-साध्वियों को लेना नहीं कल्पता है। यदि कोई स्थानक या उपाश्रय उस नगर-निवासी सभी लोगों का बनाया हुआ हो और सभी उस पर अपना स्वामित्व रखते हों, तब ऐसी दशा में साधु-साध्वी किसके घर से भक्त-पान लेवें? इस शंका का समाधान सूत्रकार ने इस प्रकार किया है कि उस स्थान के सभी स्वामियों में से किसी एक को 'कल्पक' स्थापित कर अर्थात् उसे प्रधानरूप से स्वामी मानकर उसके घर का भक्त-पान न ग्रहण करे। उसके सिवाय जितने भी लोग उस स्थानक के भागीदार या हिस्सेदार हैं, उनको शय्यातर रूप से न माने अर्थात् उनके घरों में प्रवेश कर आहार पानी लावे।

सूत्रोक्त 'निव्विसेज्जा' इस प्राकृत पद के टीकाकार ने दो प्रकार से अर्थ किये हैं—१ निर्विशेत्-विसर्जयेत्-शय्यात्तरत्वेन न गणयेत्।

अथवा—२ निर्विशेत्-प्रविशेत्-आहाराद्यर्थं तेषां (शेषाणां) गृहेषु अनुविशेत्।

जाया गया है, किन्तु अन्य के यहाँ बने हुए आहार से मिश्रित नहीं किया गया है—लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र १६

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—

सागारियपिण्डं बहिया नीहडं संसट्ठं पडिग्गाहित्तए ॥१६॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को सागारिक पिण्ड जो घर से बाहर भी ले जाया गया है और अन्य के यहाँ बने हुए आहार से भी मिश्रित किया गया है—लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—इन दोनों सूत्रों में से प्रथम सूत्र का आशय तो यह है कि सागारिक का भक्त-पिण्ड यद्यपि उसके घर से बाहर निकला हुआ है, पर जब तक वह दूसरे गृहस्थ के भक्त-पिण्ड के साथ नहीं मिलाया गया है, तब तक उस सागारिक का ही स्वामित्व बना रहता है, अतः वह साधु-साध्वियों के लिए अकल्प्य है। दूसरे सूत्र का अभिप्राय यह है कि उस सागारिक भक्त-पिण्ड को जब अन्य गृहस्थों के भक्त-पिण्डों के साथ मिला दिया जाता है तब सागारिक का उस पर स्वामित्व नहीं रहता है, अतः वह सम्मिलित भक्त-पिण्ड साधु-साध्वियों के लिए कल्पनीय हो जाता है।

सूत्र १७

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—

सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं करित्तए ॥१७॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को घर से बाहर ले जाया गया सागारिक-पिण्ड जो अन्य के यहाँ बने हुए आहार से मिश्रित नहीं है, उसे मिश्रित करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—(यद्यपि यह सूत्र या सूत्रांश सनिर्युक्ति-सभाष्य-सटीक मुद्रित प्रति में तथा श्री घासीलालजी म० विरचित सटीक प्रति में नहीं है, तथापि उत्तरवर्ती (जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा, इत्यादि) सूत्र के सन्दर्भ को देखते हुए इसे सूत्र मानना प्रकरण संगत प्रतीत होता है।

इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि कोई सागारिक (शय्यातर) यह विचार करे कि साधु हमारे घर पर तो गोचरी को अकल्पनीय मानकर नहीं आते हैं, पर मेरी भावना पात्र को दान करने की है, अतः वह अपना भक्त-पिण्ड ले जाकर दूसरे गृहस्थ के घर दे आवे और उसको उस गृहस्थ ने नहीं स्वीकृत

आहृतिका सूत्र

अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण कर लिया है और वह उसमें से साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २०

सागारियस्स आहडिया सागारिएणं अपडिग्गहिया
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥२०॥

किन्तु अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण नहीं किया है। यदि आहार लाने वाला उस आहार में से साधु को दे तो लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—दूसरे के यहाँ से आई हुई खाद्य सामग्री को 'आहृतिका' कहा जाता है। उसे यदि शय्यातर ने स्वीकार कर लिया है और वह उसमें से कुछ भाग निकालकर साधु को देवे तो उसे लेना साधु को नहीं कल्पता है। क्योंकि उस पर शय्यातर का स्वामित्व हो गया है। यदि उस आये या परोसे हुए आहार को सागारिक ने स्वीकार नहीं किया है, यदि उस आहार में से लाने वाला या अन्य कोई व्यक्ति साधु को देवे तो लेना कल्पता है। क्योंकि उस आहार पर लाने वाले का ही स्वामित्व है।

सूत्र २१

सागारियस्स नीहडिया परेण अपडिग्गहिया
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२१॥

निर्हृतिका सूत्र

सागारिक के घर से अन्य घर पर ले जाये गये आहार को गृहस्वामी ने स्वीकार नहीं किया है। यदि कोई उस आहार में से साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २२

सागारियस्स नीहडिया परेण पडिग्गहिया
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥२२॥

किया हो, या स्वीकार करके भी अपने भक्त-पिण्ड में सम्मिलित नहीं किया हो तो ऐसे पृथक् रखे हुए सागारिक के उस भक्त-पिण्ड को चर्याप्रविष्ट गृहस्थ के घर पर उसके भोजन में मिलाना साधु या साध्वी के लिए नहीं कल्पता है।

सूत्र १८

जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा—
सागारियपिण्डं बहिया नीहडं असंसट्ठं संसट्ठं करेइ, करंतं वा साइज्जइ,
से दुहओ विइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं—
परिहारठाणं अणुग्घाइयं ॥१८॥

जो निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी घर से बाहर ले जाये गये सागारिक-पिण्ड को अन्य के यहाँ बने हुए आहार से जो मिश्रित नहीं है उसे मिश्रित करता है या मिश्रित करते हुए का अनुमोदन करता है वह लौकिक और लोकोत्तर मर्यादा का अतिक्रमण करता हुआ अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार तपरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—सागारिक के घर से दूसरे गृहस्थ के घर आये हुए भक्त-पिण्ड को जो साधु या साध्वी स्वयं अपने हाथ से उसके भक्त-पिण्ड में मिलाता है, या गृहस्थ के द्वारा मिलाये जाने पर उसका अनुमोदन करता है, तो वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है, क्योंकि उसने एक तो लौकिक मर्यादा का उल्लंघन किया, शय्यातर-गृहस्थ के घर से आये भक्त-पिण्ड को अपने हाथ से उसके पात्र में खिलाने या दिलाने की अनुमति देना लौकिक मर्यादा के प्रतिकूल है। दूसरा जिन-आज्ञा का उल्लंघन है, क्योंकि आगम में ऐसा करने का निषेध किया गया है। इस प्रकार लौकिक मर्यादा और जिन शासन मर्यादा इन दोनों मर्यादाओं का अतिक्रमण करने पर साधु या साध्वी को चार मास के गुरु परिहार प्रायश्चित्त का भागी कहा गया है।

आहृतिका-निर्हृतिकाप्रकृतम्

सूत्र १९

सागारियस्स आहडिया सागारिएणं पडिग्गहिया
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥१९॥

आहृतिका सूत्र

अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण कर लिया है और वह उसमें से साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २०

सागारियस्स आहृडिया सागारिएणं अपडिग्गहिया

तम्हा दावए,

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥२०॥

किन्तु अन्य घर से आये हुए आहार को सागारिक ने अपने घर पर ग्रहण नहीं किया है। यदि आहार लाने वाला उस आहार में से साधु को दे तो लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—दूसरे के यहाँ से आई हुई खाद्य सामग्री को 'आहृतिका' कहा जाता है। उसे यदि शय्यातर ने स्वीकार कर लिया है और वह उसमें से कुछ भाग निकालकर साधु को देवे तो उसे लेना साधु को नहीं कल्पता है। क्योंकि उस पर शय्यातर का स्वामित्व हो गया है। यदि उस आये या परोसे हुए आहार को सागारिक ने स्वीकार नहीं किया है, यदि उस आहार में से लाने वाला या अन्य कोई व्यक्ति साधु को देवे तो लेना कल्पता है। क्योंकि उस आहार पर लाने वाले का ही स्वामित्व है।

सूत्र २१

सागारियस्स नीहृडिया परेण अपडिग्गहिया

तम्हा दावए,

नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२१॥

निर्हृतिका सूत्र

सागारिक के घर से अन्य घर पर ले जाये गये आहार को गृहस्वामी ने स्वीकार नहीं किया है। यदि कोई उस आहार में से साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २२

सागारियस्स नीहृडिया परेण पडिग्गहिया

तम्हा दावए,

एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥२२॥

किन्तु सागारिक के घर से अन्य घर पर ले जाये गये आहार को गृह-स्वामी ने स्वीकार कर लिया है। यदि वह उस आहार में से साधु को दे तो लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—सागारिक के घर से अपने सम्बन्धी या पड़ौसी के यहाँ भेजे गये आहार को 'निर्ह तिका' कहा जाता है। यदि सम्बन्धी या पड़ौसी ने उस आहार को स्वीकार नहीं किया है और उसमें से यदि वह साधु के लिए देता है तो वह उसके लिए अकल्पनीय है, क्योंकि तब तक उस पर सागारिक का ही स्वामित्व बना हुआ है। जब वह सम्बन्धी या पड़ौसी उसे स्वीकार कर लेता है, तब उसका स्वामी वह बन जाता है। उसमें से यदि वह साधु के लिए देवे तो उसे लेना कल्पता है।

अंशिकाप्रकृतम्

सूत्र २३

सागारियस्स अंसियाओ
अविभत्ताओ, अव्वोच्छिन्नाओ अव्वोगडाओ, अनिज्जूढाओ
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२३॥

अंशिका प्रकरण

(सागारिक तथा अन्य व्यक्तियों के लिए संयुक्त निष्पन्न भोजन में से) सागारिक का अंश (विभाग) यदि—

१. **अविभक्त**—(विभाग निश्चित नहीं किया गया हो।)

२. **अव्यवच्छिन्न**—(विभाग पृथक् न किया गया हो।)

३. **अव्याकृत**—(यह विभाग तेरा एवं यह विभाग मेरा—इस प्रकार विभाग निर्धारित न किए गए हों।) और

४. **अनिर्यूढ**—(विभाग बाहर न निकाला गया) हो ऐसे आहार में से साधु को कोई दे तो लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २४

सागारियस्स अंसियाओ
विभत्ताओ, वोच्छिन्नाओ वोगडाओ निज्जूढाओ
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥२४॥

किन्तु सागारिक का अंश यदि—
१. विभक्त हो,
२. व्यवच्छिन्न हो,
३. व्याकृत हो, तथा
४. निर्यूढ हो। ऐसे आहार में से साधु को कोई दे तो लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—अंशिका नाम भाग का है। सागारिक के साथ अनेक मित्र स्वजन आदि ने कहीं पर भोजन-सामग्री को सम्मिलित वनाया, उसमें से सागारिक का अंश (भाग) जव तक पृथक् न कर दिया जाय, तव तक उस सम्मिलित भोजन सामग्री में से यदि कोई अन्य जन साधु को देवे तो वह उसके लिए कल्पनीय नहीं है इसका प्रस्तुत सूत्र में निर्देश किया गया है। सूत्र में प्रयुक्त पदों का अर्थ इस प्रकार है—

विभक्त का अर्थ पृथक्करण या विभाजन है, जव तक सागारिक का भाग उस सम्मिलित भोज्य सामग्री में से पृथक रूप से निश्चत नहीं किया जाय, तव तक वह अविभक्त है।

व्युच्छिन्न या व्यवच्छिन्न का अर्थ सम्वन्ध का विच्छेद है। जव तक सागारिक के अंश का सम्वन्ध-विच्छेद न हो जाय, तव तक वह अव्यवच्छिन्न है।

व्याकृत का अर्थ भाग के स्पष्टीकरण का है कि इतना अंश तुम्हारा है और इतना अंश मेरा है, जव तक ऐसा निर्धारण नहीं हो जाय तव तक वह अव्याकृत कहलाता है।

निर्यूढ का अर्थ पृथक् निर्धारित अंश से अलग करना है। जव तक सागारिक का अंश उस सम्मिलित भोजन में से निकाल न दिया जाय, तव तक वह अनिर्यूढ कहलाता है।

इस प्रकार पूरे सूत्र का समुच्चय अर्थ होता है कि उस सम्मिलित भोजन में से सागारिक का अंश अविभाजित है, अव्यवच्छिन्न (सम्वद्ध) है, अनिर्णीत है और अनिष्कासित है, तव तक उस भोजन के आयोजकों में से यदि कोई व्यक्ति साधु को कुछ अंश देता है, तो वह उनके लिए ग्राह्य नहीं हैं। किन्तु जव सागारिक का अंश विभाजित, व्यवच्छिन्न, निर्धारित और निष्कासित हो जाता है, तव उस सम्मिलित भोज्य-सामग्री में से दिया गया भक्त-पिण्ड साधु के लिए ग्राह्य है, वह उसे ले सकता है।

यहाँ यह भी विशेप ज्ञातव्य है कि अनेक जनों के द्वारा सम्मिलित वनाये गये भोजन के अतिरिक्त सम्मिलित तैयार किया गया गुड़, तेल, घी आदि

सभी इसी के अन्तर्गत हैं। उनमें से भी जब तक सागारिक का भाग निकाल कर सर्वथा पृथक् नहीं कर दिया जावे तब तक वह वस्तु भी साधु के लिए अग्राह्य ही है।

पूज्यभक्तउपकरणप्रकृतम्

सूत्र २५

सागारियस्स पूयाभत्ते
उद्देसिए, चेइए, पाहुडियाए,
सागारियस्स उवगरण जाए, निट्ठिए, निसट्ठे, पाडिहारिए
तं सागारिओ देज्जा, सागारियस्स परिजणो देज्जा
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥२५॥

पूज्य भक्त-उपकरण प्रकरण

सागारिक ने अपने पूज्य-पुरुषों या अन्य जनों के उद्देश्य से जो आहार बनवाया है। अथवा उन्हें भेंट देने के लिए जो आहार रखा है तथा वस्त्र कम्बलादि उपकरण जो बनवाये हैं या भेंट देने के लिए जो निकाल रखे हैं। उनमें से पूज्य पुरुषों द्वारा या अन्य जनों द्वारा आहार और वस्त्रादि उपकरणों के ग्रहण कर लिए जाने पर जो अवशेष आहार एवं उपकरण हैं वे सागारिक को लौटाने योग्य हैं।

यदि सागारिक या उसके परिजन वह अवशिष्ट आहार एवं वे अवशिष्ट उपकरण साधु को दे तो लेना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—शय्यातर गृहस्थ के नाना, मामा, बहनोई, जमाई, विद्यागुरु, कलाचार्य, स्वामी या मेहमान आदि पूज्य जनों के निमित्त से, उनके उद्देश्य से जो भक्त-पान बनाया जाता है, उसे पूज्य-भक्त कहते हैं। वह शय्यातर के घर से लाकर जहाँ उक्त पूज्यजन ठहरे हों वहाँ उन्हें भोजनार्थ समर्पण किया गया हो, या बाजार आदि से मँगाकर भेंट स्वरूप उक्त पूज्यजनों के पास भेजा गया हो, शय्यातर के भाजनों में पकाया गया हो, उसके पात्र से निकाला गया हो और प्रातिहारिक हो अर्थात् पूज्य जनों को खिलाने के पश्चात् जो भोजन बचे, वह वापस लाकर सौंपना, ऐसा कहकर सेवक या कुटुम्बी जन-द्वारा भेजा गया हो, ऐसे सभी आहार पूज्य-भक्त कहे जाते हैं। इसी प्रकार

सागारिक के लिए बनाये गये या लाये गये वस्त्र-पात्र, कम्बलादि भी पूज्य-उपकरण कहलाते हैं। ऐसे पूज्य-निमित्त वाले भक्त-पिण्ड और उपकरण को चाहे शय्यातर स्वयं साधु के लिए देवें, या उसके स्वजन-परिजनादिक देवें, या उक्त पूज्य भक्त उपकरण में से कुछ भाग निकाल कर देवें, फिर भी वह साधु साध्वी के ग्रहण करने के लिए कल्पता नहीं है, क्योंकि उसमें शय्यातर के स्वामित्वका सम्बन्ध बना हुआ है।

सूत्र २६

सागारियस्स पूयाभत्ते
उद्देसिए, चेइए जाव— पाडिहारिए
तं नो सागारिओ देज्जा, नो सागारियस्स परिजणो देज्जा,
सागारियस्स पूया देज्जा,
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२६॥

सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों या अन्य जनों के उद्देश्य से जो आहार बनवाया है। अथवा उन्हें भेंट देने के लिए जो आहार रखा है तथा वस्त्र-कम्बलादि उपकरण जो बनवाये हैं या भेंट देने के लिए जो निकाल रखे हैं।

उनमें से पूज्य पुरुषों द्वारा या अन्य जनों द्वारा आहार और वस्त्रादि उपकरण ग्रहण कर लिए जाने पर जो अवशेष आहार एवं उपकरण हैं वे सागारिक को लौटाने योग्य हैं।

उस अवशिष्ट आहार एवं उन उपकरणों को न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दे किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दें तो भी साधु को लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २७

सागारियस्स पूयाभत्ते,
उद्देसिए, चेइए पाहुडियाए
सागारियस्स उवगरणजाए निट्ठिए निसट्ठे अपाडिहारिए
तं सागारिओ देइ, सागारिअस्स परिजणो वा देइ
तम्हा दावए,
नो से कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२७॥

सागारिक ने अपने पूज्य पुरुषों या अन्य जनों के उद्देश्य से जो आहार बनवाया है अथवा उन्हें भेंट देने के लिए जो आहार रखा है तथा वस्त्र-कम्बलादि उपकरण जो बनवाये हैं या भेंट देने के लिए जो निकाल रखे हैं।

उनमें से पूज्य पुरुषों द्वारा या अन्य जनों द्वारा आहार और वस्त्रादि, उपकरण ग्रहण कर लिए जाने पर जो अवशेष आहार एवं उपकरण हैं वे सागारिक को लौटाने योग्य नहीं हैं।

यदि सागारिक या उसके परिजन वह अवशिष्ट आहार एवं वे अवशिष्ट उपकरण साधु को दें तो लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र २८

सागारियस्स पूयाभत्ते—जाव—अपाडिहारिए
तं नो सागारिओ देइ, नो सागारियस्स परिजणो देइ,
सागारियस्स पूया देइ,
तम्हा दावए,
एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥२८॥

सागारिक ने अपने पूज्य-पुरुषों के या अन्य जनों के उद्देश्य से जो आहार बनवाया है—यावत्—जो अवशेष आहार एवं उपकरण हैं वे सागारिक को लौटाने योग्य नहीं हैं।

उस अवशिष्ट आहार एवं उन उपकरणों को न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दे किन्तु सागारिक के पूज्य पुरुष दें तो लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—शय्यातर ने जो भोजन-पान अपने पूर्वोक्त पूज्यजनों में से किसी के लिए भी बनाया है, या शय्यातर के भाजनों में बना हो, या उसके भाजनों से निकाला गया हो और लाकर पूज्यजन को सौंप दिया या भेंट कर दिया गया हो और जिसका कुछ भाग उनके खाने से बचने पर वापस लाने को नहीं कहा गया हो, ऐसा भक्त-पिण्ड यदि सागारिक के पूज्यजन वहाँ पर गोचरी के लिए आये हुए साधु-साध्विजनों को देवें तो उन्हें उसे लेना कल्पता है। क्योंकि उस पूज्यभक्त पिण्ड में शय्यातर का स्वामित्व नहीं रहा। किन्तु पूज्य पुरुष का हो गया है।

उपाधिप्रकृतम्

वस्त्रप्रकृतम्

सूत्र २६

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—

इमाइं पंच वत्थाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा तं जहा—

१. जंगिए, २. भंगिए, ३. साणए

४. पोत्तए, ५. तिरीडपट्टे नामं पंचमे ॥२६॥

उपधि प्रकरण

वस्त्र सूत्र

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को पाँच प्रकार के वस्त्रों का समीप रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

यथा—

१. जांगमिक—(त्रसजीवों के अवयवों से निष्पन्न) वस्त्र।

२. भांगिक—(अलसी की छाल से निष्पन्न) वस्त्र।

३. सानक—(सन सूत्र से निष्पन्न) वस्त्र।[1]

४. पोतक—(कपास से निष्पन्न) वस्त्र।

५. तिरीट पट्ट—(तिरीट वृक्ष के वल्कल से निष्पन्न) वस्त्र।

विशेषार्थ—जंगम (गमनागमन करने वाले) भेड़ आदि के वालों से वने वस्त्र को जांगमिक कहते हैं।

अलसी आदि की छाल से वने वस्त्र को भांगिक कहते हैं।

सन (जूट) से वने वस्त्रों को शाणक कहते हैं।

कपास से वने वस्त्र को पोतक कहते हैं, और

तिरीट (तिमिर) वृक्ष की छाल से वने वस्त्र को तिरीट पट्टक कहते हैं।

ये पांच प्रकार के वस्त्र साधु के लिए कल्पनीय हैं।

ऐसा सूत्र-निर्देश होने पर भी भाष्यकार ने इनमें से साधु के या साध्वी के लिए दो कार्पासिक और एक औणिक ऐसे तीन ही वस्त्रों को रखने या पहनने का निर्देश किया है।

---

१ स्थानांग अ० ५, उ० ३, सू० ४४६।

जंगम का अर्थ त्रस-जीव हैं। त्रसजीव दो प्रकार के होते हैं—विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

कोशा, रेशम और मखमल विकलेन्द्रिय—प्राणिज वस्त्र हैं। इनका उपयोग साधु के लिए सर्वथा वर्जित है क्योंकि ये उन प्राणियों का घात करके निकाले गये सूत्रों से बनते हैं।

पंचेन्द्रियजीवों के चर्म से निर्मित वस्त्र भी हेय हैं। हाँ, पंचेन्द्रियों के केशों से निर्मित ऊनी वस्त्रों का उपयोग साधु और साध्वी कर सकते हैं, क्योंकि भेड़ आदि के केश काटने में उन्हें प्राणघातक कष्ट नहीं होता है, अपितु ऊन काटने के वाद हल्केपन का ही अनुभव होता है।

रजोहरणप्रकृतम्

सूत्र ३०

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीणं वा—

इमाइं पंच रयहरणाइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा, तं जहा—

१. ओण्णिए, २. उट्टिए, ३. साणए,

४. वच्चाचिप्पए, ५. मुंजचिप्पए नामं पंचमे।

त्तिबेमि ।३०।।

बिइओ उद्देसओ समत्तो

रजोहरण सूत्र

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को इन पाँच प्रकार के रजोहरणों का समीप रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

यथा—

१. **औणिक**—(भेड़ों की ऊन से निष्पन्न) रजोहरण।

२. **औष्ट्रिक**—(ऊँट के केशों से निष्पन्न) रजोहरण।

३. **सानक**—(सन के वल्कल से निष्पन्न) रजोहरण।

४. **वच्चाचिप्पक**—(वच्चक नामक घास से निष्पन्न) रजोहरण।

५. **मुंज चिप्पक**—(मुंज से निष्पन्न) रजोहरण।[1]

विशेषार्थ—जिसके द्वारा धूलि आदि द्रव्यरज और कर्म-मलरूप भावरज दूर की जाय, उसे रजोहरण कहते हैं।

---

१ स्थानांग अ० ५, उ० ३, सू० ४४६।

द्रव्यरज जो गमनागमन करते हुए पैरों में लग जाती है, वह उससे पोंछी जाती है—साफ की जाती है, अतः रजोहरण का दूसरा नाम पादप्रोंछन भी है।

इस रजोहरण से भूमिगत, शरीर या वस्त्र-शय्यादि पर चढ़े हुए कीड़े-मकोड़े आदि का उन्हें कष्ट पहुँचाए बिना सुख से निवारण किया जा सकता है, अतः जीव-रक्षा का साधन होने से यह कर्मरूप भाव रज या असंयम को दूर करता है, इसलिए इसे भावरजोहरण भी कहते हैं।

यह रजोहरण पांच प्रकार का होता है—

जो मेष (भेड़) आदि के ऊन से बनाया जावे वह औणिक है।

जो ऊँट के केशों से बनाया जाय वह औष्ट्रिक है।

जो सन के वल्कल से बनाया जाय वह शानक है।

वच्चा नाम डाभ या कांस का है, उसे कूट कर और कर्कश भाग दूर कर बनाये गये रजोहरण को वच्चाचिप्पक कहते हैं।

मुंज को कूट कर तथा उसके तीक्ष्ण भाग को दूर कर उससे बनाये गये रजोहरण को मुंज चिप्पक कहते हैं।

इन पाँचों में पूर्व-पूर्व के कोमल होते हैं और उत्तर-उत्तर के कर्कश होते हैं। अतः सबसे कोमल होने से औणिक रजोहरण ही प्रशस्त या उत्तम माना गया है। उसके अभाव में औष्ट्रिक और उसके अभाव में शानक रजोहरण का स्पष्ट निर्देश भाष्यकार ने किया है। यदि किसी देश-विशेष में उक्त तीनों ही प्रकार के रजोहरण उपलब्ध न हों तो वैसी दशा में ही वच्चाचिप्पक और उसके भी अभाव में मुंजचिप्पक रजोहरण ग्रहण करने का विधान किया है, अन्यथा नहीं।

विपरीत क्रम से रजोहरण के ग्रहण करने पर तो लघुमासिक प्रायश्चित्त का निर्देश किया है। साधु या साध्वी की संयम की रक्षा के लिए तथा शारीरिक रज को दूर करने के लिए एक रजोहरण का धारण करना आवश्यक माना गया है।

द्वितीय उद्देशक समाप्त

□

तइओ उद्देसओ

उपाश्रय-प्रवेशप्रकृतम्

सूत्र १

नो कप्पइ निग्गंथाणं निग्गंथीणं उवस्सयंसि—
आसइत्तए वा, चिट्ठित्तए वा, निसीइत्तए वा,
तुयट्टित्तए वा, निद्दाइत्तए वा, पयलाइत्तए वा,
असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा आहारं आहारेत्तए,
उच्चारं वा, पासवणं वा, खेलं वा, सिंघाणं वा परिट्ठवेत्तए,
सज्झायं वा करेत्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउसग्गं वा करित्तए
ठाणं वा ठाइत्तए ॥१॥

उपाश्रय-प्रवेश प्रकरण

निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थियों के उपाश्रय में—

१. ठहरना, २. बैठना, ३. लेटना, ४. निद्रा, या ५. ऊंघ लेना, ६. अशनादि चार प्रकार का आहार करना, ७. मल, ८. मूत्र, ९. कफ, और १०. नाक का मैल त्यागना, ११. स्वाध्याय, १२. ध्यान, तथा १३. खड़े या बैठे कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २

नो कप्पइ निग्गंथीणं निग्गंथाणं उवस्सयंसि—
आसइत्तए जाव—ठाणं वा ठाइत्तए ॥२॥

---

१ भाष्ये टीकायां च नास्ति 'आसइत्तए' इति पदम्। विशेष चूर्णौ तु विद्यते।

निर्ग्रन्थियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय में ठहरना यावत् खड़े या बैठे कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—निर्ग्रन्थों के समान निर्ग्रन्थियों (साध्वियों) को साधुओं के उपाश्रय में ठहरना यावत् खड़े रहना, बैठना, लेटना, करवट बदलना, निद्रा लेना, ऊँघना, भक्त-पानादि करना, मल-मूत्रादि परठना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना, कायोत्सर्ग करना और अकारण रहना नहीं कल्पता है।

सामान्यतः अकारण साधुओं को साध्वियों के उपाश्रय में तथा साध्वियों को साधुओं के उपाश्रय में जाना ही निषिद्ध है। यदि कारणवश जाना भी पड़े तो उन्हें वहाँ पर सूत्रोक्त कार्य नहीं करना चाहिए। अकेले साधु या अकेली साध्वी का भी एक-दूसरे के उपाश्रय में जाना निषिद्ध है। यदि कारण-वश जाना भी पड़े तो खड़े-खड़े ही कार्य करके कुछ समय में ही वापस लौट आना चाहिए। क्योंकि अधिक समय तक ठहरने से लोगों में नाना प्रकार की आशंकाएँ उत्पन्न होती हैं, अधिक परिचय बढ़ने से किसी एक या दोनों ही पक्षों के ब्रह्मचर्य में भी दूषण लगना सम्भव है और साधु-साध्वियों का एक-दूसरे के उपाश्रय में खान-पान या मल-मूत्रादि का विसर्जन तो लोक-निन्दित एवं सर्वथा गर्हित है ही।

चर्मप्रकृतम्

सूत्र ३

नो कप्पइ निग्गंथीणं- सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए ॥३॥

चर्म प्रकरण

निर्ग्रन्थियों को शयनासनादि कार्यों के लिए रोम-सहित चर्म लेना नहीं कल्पता है।

सूत्र ४

कप्पइ निग्गंथाणं- सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए,
से वि य परिभुत्ते, नो चेव णं अपरिभुत्ते,
से वि य पाडिहारिए, नो चेव णं अपाडिहारिए,
से वि य एगराइए, नो चेव णं अणेगराइए ॥४॥

किन्तु निर्ग्रन्थों को शयनासनादि कार्यों के लिए रोम-सहित चर्म लेना कल्पता है।

(१) वह भी परिभुक्त (काम में लिया हुआ) हो, अपरिभुक्त (नया) न हो।

(२) प्रातिहारिक (लौटाया जाने वाला) हो, अप्रातिहारिक (न लौटाया जाने वाला) न हो।

(३) केवल एक रात्रि में उपयोग करने के लिए लाया जावे, पर अनेक रात्रियों में उपयोग करने के लिए न लाया जावे।

विशेषार्थ—वास्तव में उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि चर्म चाहे सरोम हो या अरोम, उस पर साधु या साध्वी को अल्पकाल के लिए भी बैठना नहीं कल्पता है। क्योंकि उस पर बैठने से उसे जीव-घात की अनुमोदना का पाप लगता है। फिर भी साध्वियों के लिए उस पर बैठने का जो सर्वथा निषेध किया गया है, उसका कारण यह है कि सरोम मृगचर्म अति मृदुल, चिकना और सुख-स्पर्श होता है। उस पर बैठने से साध्वियों के मन में गृहस्थ जीवन में सेवित सुकोमल शय्या की स्मृति आ जाती है इससे उनके संयम में शिथिलता आ जाती है, क्योंकि वे सुख-शील होती हैं। परन्तु साधु पुरुष स्वभावतः सहनशील होता है, अतः उसके संयम में शिथिल होने की सम्भावना नहीं रहती है। फिर भी साधु को अर्श-भगन्दर आदि रोगों की अवस्था विशेष में ही परिभुक्त और प्रातिहारिक सरोम चर्म पर केवल एक रात बैठने की आज्ञा अपवाद रूप में दी गयी है।

भाष्यकार ने लिखा है कि यदि किसी साधु को गलित कोढ़ हो, रक्त अर्श (खूनी बवासीर) हो, या क्षरित खाज हो तो उसके रक्त-लिप्त वस्त्रों को बार-बार धोना साधु के लिए दुष्कर है, ऐसी दशा-विशेष में ही रोमरहित चर्म का उपयोग उक्त रोग-ग्रस्त साधु के लिए कल्पता है, अन्यथा नहीं।

सूत्र ५

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा- कसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा, परिहरित्तए वा ॥५॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अखण्ड चर्म पास में रखना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ६

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा- अकसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥६॥

किन्तु निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को चर्म-खण्ड पास में रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि साधु या साध्वी किसी भी प्रकार का चर्म या चर्म-खण्ड न अपने पास रखें और न उसका उपयोग ही करें। किन्तु कारण विशेष की अवस्था में अपवाद मार्ग का निर्देश उक्त सूत्रों द्वारा किया गया है कि किसी भी अखण्ड या परिपूर्ण चर्म को साधु या साध्वी अपने पास न रखें और न उसका उपयोग करें। किन्तु कारण विशेष के होने पर चर्म-खण्ड को अपने पास रख सकते हैं और उपयोग कर सकते हैं। जैसे सन्धि-वातादि की दशा में वैद्य कदाचित् जाँघ आदि में बाँधना आवश्यक बतावे, या रुग्ण साधु को अति-शीत या अति उष्णकाल में नंगे पैर चलने का वैद्य निषेध कर दे, दृष्टि मन्द हो जाय, पैरों में छाले पड़ जायें, इत्यादि कारणों के होने पर चर्म-खण्ड के उपयोग करने का विधान साधु-साध्वी के लिए किया गया है।

वस्त्रप्रकृतम्

सूत्र ७

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-
कसिणाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥७॥

वस्त्रप्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अखण्ड वस्त्रों का रखना या उपयोग करना नहीं कल्पता है।

सूत्र ८

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-
अकसिणाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥८॥

किन्तु निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को खण्डित वस्त्रों का रखना या उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—जो वस्त्र उत्पादन स्थान से जैसा अखण्ड बाजार में आता है, उस पूरे वस्त्र को कृत्स्न कहा जाता है, ऐसा अखण्ड वस्त्र साधु और साध्वी जनों को न तो अपने पास रखना चाहिए और न पहिरना चाहिए, किन्तु उन्हें खण्ड किया हुआ वस्त्र ही पास में रखना या पहिरना चाहिए।

भाष्यकार ने इस कृत्स्न अर्थात् अखण्ड वस्त्र की विस्तृत व्याख्या करते हुए लिखा है कि कृत्स्न वस्त्र द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का होता है। उनमें से द्रव्य कृत्स्न के भी दो भेद हैं—सकल द्रव्यकृत्स्न और प्रमाण द्रव्यकृत्स्न।

जो वस्त्र अपने आदि और अन्त भाग से युक्त हो, किनारीवाला हो, कोमल स्पर्शयुक्त हो और काजल, काले-पीले धब्बे आदि से रहित हो उसे द्रव्य की अपेक्षा सकल कृत्स्न कहते हैं।

इसके भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट की अपेक्षा तीन भेद हैं।

मुखवस्त्रिकादिजघन्य द्रव्यकृत्स्न है, चोलपट्टादि मध्यम और प्रावरण (ओढ़ने का वस्त्र) आदि उत्कृष्ट द्रव्यकृत्स्न हैं।

जो वस्त्र उचित लम्बाई-चौड़ाई के प्रमाण से अधिक लम्बे-चौड़े होते हैं, उन्हें द्रव्य की अपेक्षा प्रमाण-कृत्स्न कहते हैं।

जो वस्त्र जिस क्षेत्र (देश-नगरादि) में दुर्लभ हो, उसे क्षेत्र-कृत्स्न कहते हैं। एक देश का बना वस्त्र दूसरे देश में प्रायः बहुमूल्य एवं दुर्लभ होता है।

जो वस्त्र जिस काल में महँगा मिले उसे कालकृत्स्न कहते हैं। जैसे ग्रीष्म-काल में सूती, रेशमी आदि पतले वस्त्र और शीतकाल में मोटे ऊनी गरमवस्त्र तथा वर्षाकाल में रंगीन वस्त्र बहुमूल्य हो जाते हैं।

भावकृत्स्न के दो भेद हैं—वर्णयुत और मूल्ययुत। इनमें वर्णयुत वस्त्र के कृष्ण, नील, आदि वर्णों की अपेक्षा पाँच भेद होते हैं।

मूल्ययुतवस्त्र भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता है।

जहाँ पर जिसका मूल्य कम हो वहाँ वह जघन्य और जहाँ उसी का मूल्य अधिक हो, वहाँ वही उत्कृष्ट मूल्य का जानना चाहिए।

जो वस्त्र सर्वत्र समान मूल्य से उपलब्ध हो वह मध्यम मूल्य वाला कहलाता है।

अथवा जिस वस्त्र के धारण करने से राग या द्वेष उत्पन्न हो उसे भाव-कृत्स्न कहते हैं। जैसे अति चमक-दमक वाले रमणीय वस्त्र के पहिरने से रागभाव उत्पन्न होता है और अति मलिन वस्त्र के पहिरने से मन में ग्लानि या द्वेष भाव जागृत होता है।

उक्त चारों ही प्रकार के कृत्स्नवस्त्र साधु या साध्वी के लिए रखना या पहिरना अयोग्य हैं।

इनके रखने या पहिरने के दोषों का निर्देश करते हुए भाष्यकार ने लिखा है कि प्रमाणातिरिक्त वस्त्रों के रखने पर मार्ग-गमनकाल में भार वहन करना पड़ता है।

अखण्ड, वहुमूल्य सूक्ष्म वस्त्रों को चोर-डाकू चुरा सकते हैं, या अन्य कोई भी असंयमी छीन सकता है।

एक राज्य से दूसरे राज्य में प्रवेश करने पर चुंगी वाले कर माँग सकते हैं, या वस्त्र छीन सकते हैं।

श्रावक ऐसे वस्त्रों को साधु के समीप देखकर उनसे घृणा या उनकी निन्दा कर सकता है।

इत्यादि कारणों से चारों ही प्रकार के कृत्स्नवस्त्र साधु-साध्वी को नहीं कल्पते हैं। किन्तु जो द्रव्य से अल्प प्रमाणोपेत हो, क्षेत्र और काल से सर्वत्र सुलभ हो और भाव से जो राग-द्वेषजनक न हो, ऐसा वस्त्र ही उनको धारण करना चाहिए।

सूत्र ९

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-
अभिन्नाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥९॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अभिन्न वस्त्रों का रखना या उपयोग करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १०

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-
भिन्नाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥१०॥

किन्तु निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को भिन्न वस्त्रों का रखना या उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—वस्त्र-उत्पादक ने जैसा छोटा या वड़ा वस्त्र वनाया है उसे अभिन्न, परिपूर्ण या अखण्ड कहते हैं। उस अखण्ड वस्त्र को रखना या पहिरना साधु या साध्वी के लिए कल्पनीय नहीं है। किन्तु भिन्न अर्थात् थान में से फाड़कर गृहस्थ के द्वारा दिया हुआ वस्त्र ही उन्हें पहिरना या समीप में रखना कल्पनीय है।

प्रश्न—पूर्व सूत्र में कथित कृत्स्न और इसमें कथित 'अभिन्न' पद तो समान अर्थ वाले हैं, फिर यह पुनरुक्ति या पिष्टपेषण क्यों किया गया ? क्या यह सूत्र निरर्थक है ?

उत्तर—यद्यपि कृत्स्न और अभिन्न शब्द पर्याय-वाचक हैं, तथापि यह सूत्र निरर्थक नहीं है, क्योंकि यह कारण-विशेष की अपेक्षा से कहा गया है।

प्रश्न—वह कारण-विशेष क्या है ?

उत्तर—यह सूत्र वस्त्रों की गणना और प्रमाण इन दो विशेषताओं को सूचित करता है, अर्थात् साधु को कितने वस्त्र रखने चाहिए और उन वस्त्रों की लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण कितना होना चाहिए।

प्रश्न—साधु कितने वस्त्र और कौन-कौन से वस्त्र रख सकता है ?

उत्तर—स्थविरकल्पी साधु चौदह प्रकार के वस्त्र रख सकता है—तीन शाटक (चादर), एक चोलपट्टक, एक आसन, एक मुखवस्त्रिका, एक प्रमार्जिका, पात्रों के अंचल तीन, भिक्षाधानी (झोली) एक, माण्डलिक वस्त्र एक, रजोहरण-दण्डावरक वस्त्र एक और जल-गालन वस्त्र एक।

प्रश्न—जिनकल्पी साधु कितने और कौन-कौन से वस्त्र रख सकता है ?

उत्तर—जिनकल्पी साधु दो प्रकार के होते हैं—एक तो पाणिपात्र भोजी, जो भक्त-पात्र नहीं रखते हैं और हाथ में रखे हुए आहार को ग्रहण करते हैं।

दूसरे प्रतिग्रह-(पात्र-) धारी, जो पात्रों में गोचरी लेते और खाते हैं।

ये दोनों ही प्रकार के जिनकल्पी साधु भी दो प्रकार के होते हैं—एक तो सप्रावरण, जो ओढ़ने के वस्त्र रखते हैं और दूसरे अप्रावरण; जो ओढ़ने के वस्त्र नहीं रखते हैं।

इनमें जो अप्रावरण और पाणिपात्र भोजी जिनकल्पी हैं उनके रजोहरण और मुखवस्त्रिका—ये दो उपधि होती हैं।

जो सप्रावरण पाणिपात्र भोजी हैं, उनके तीन, चार या पांच प्रकार की उपधि होती है।

तीन प्रकार की उपधि है—रजोहरण, मुखवस्त्रिका और एक सूती वस्त्र।

चार प्रकार की उपधि में उक्त तीन के साथ एक ऊनी वस्त्र।

पांच प्रकार की उपधि में दो सूती वस्त्र और जानना चाहिए।

प्रतिग्रहधारी प्रावरण-रहित जिनकल्पी साधु के नौ प्रकार की उपधि होती है—१. पात्र, २. पात्र-बन्धक (पात्र बाँधने का वस्त्र), ३. पात्र-स्थापन (जिस वस्त्र में पात्र रखे जाते हैं), ४. पात्र केसरिका (जिससे पात्र पोंछे जाते हैं), ५. पटलक (जिसे गोचरी के लिए भ्रमण करते समय पात्र के ऊपर रखते हैं), ६. रजस्त्राण (रज-धूलि से रक्षा के लिए पात्र का वेष्टन करने का वस्त्र), ७. गोच्छक (पात्रों का प्रमार्जन करने के लिए प्रमार्जनी), ८. रजोहरण, और ९. मुखवस्त्रिका।

जो प्रतिग्रहधारी और आवरण सहित जिनकल्पी होते हैं उनके उपर्युक्त नौ के साथ एक ओढ़ने का वस्त्र और अधिक होता है।

जो दो ओढ़ने के वस्त्र रखते हैं उनके उक्त दस के साथ ग्यारह उपधि होती हैं और ओढ़ने के तीन वस्त्र रखने वालों के बारह उपधि होती हैं। इस प्रकार जिनकल्पी साधुओं के अधिक से अधिक बारह उपधि तक हो सकती है।

जिनकल्पी साधु के उक्त बारह उपधि के साथ मात्रक (मूत्र-प्रश्रवण पात्र) और चौलपट्टक (कमर पर लपेटने का वस्त्र) ये दो मिलाकर चौदह उपधि होती हैं।

बृहद् (विशेष) चूर्णिकार लिखते हैं कि उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि जिन-कल्पी साधु को वस्त्र ओढ़ना ही नहीं चाहिए। किन्तु शीतकाल में जब शीतका कष्ट सहन करना सम्भव न रहे तब एक सूती वस्त्र रख सकता है। यदि उससे भी शीत का बचाव न हो सके तो एक ऊनी वस्त्र और रख सकता है। उससे भी जब किसी दुर्बल या रुग्ण साधु को शीत-सहन सम्भव न रहे, तब दो सूती और एक ऊनी ऐसे तीन वस्त्र रखने का विधान है।

इस प्रकार वस्त्रों की संख्या और प्रमाण के प्रतिपादन के लिए प्रकृत सूत्र का निर्माण करना न निरर्थक है और न पुनरुक्त ही है। दोनों सूत्रों का सार यह है कि साधु किसी भी प्रकार के अखण्ड और अभिन्न वस्त्र को न समीप रखे और न पहिरे-ओढ़े ही। किन्तु गृहस्थ के द्वारा थान में से फाड़ करके दिये गये खण्डित और भिन्न वस्त्रों को ही ओढ़े-पहिरे और अपने समीप में रखे।

उक्त दोनों सूत्रों की व्याख्या में निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णिकार ने साधु और साध्वियों के लिए और भी अनेक ज्ञातव्य विषयों का एवं कर्तव्यों का विवेचन किया है, जिसे मूल ग्रन्थों से जानना चाहिए।

अवग्रहानन्तकावग्रहपट्टकप्रकृतम्

सूत्र ११

नो कप्पइ निग्गंथाणं-
उग्गहणन्तगं वा उग्गहपट्टगं वा धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।।११।।

अवग्रहानन्तक और अवग्रह पट्टकप्रकरण

निर्ग्रन्थों को—

१. अवग्रहानन्तक—(गुप्तांग को आवृत्त करने का वस्त्र), और

२. अवग्रहपट्टक—(अवग्रहानन्तक को आवृत्त करने का वस्त्र) रखना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १२

कप्पइ निग्गंथीणं-
उग्गहणन्तगं वा उग्गहपट्टगं वा, धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।।१२।।

किन्तु निर्ग्रन्थियों को—

१. अवग्रहानन्तक—(गुप्तांग आवृत्त करने का वस्त्र), और

२. अवग्रहपट्टक—(कटिप्रदेश से जानुपर्यन्त पहना जाने वाला कच्छा-जांघिया) रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—गुप्त अंग के ढँकने वाले लंगोट या कौपीन को अवग्रहानन्तक कहते हैं और उसके भी ऊपर उसे आच्छादन करने वाले वस्त्र को अवग्रह पट्टक कहते हैं।

प्रथम सूत्र में साधुओं के लिए इन दोनों का निषेध किया गया है और दूसरे सूत्र में साध्वियों के लिए इन दोनों के रखने और पहिरने का विधान किया गया है।

यद्यपि सूत्र में उक्त दोनों के रखने का स्पष्ट निषेध है, तथापि भाष्यकार ने लिखा है कि यदि किसी साधु को भगन्दर, अर्श आदि रोग हो जाय तो उस अवस्था में अन्य वस्त्रों को रक्त-पूयसे बचाने के लिए साधु अवग्रह पट्टक रख सकता है।

साध्वियों को दोनों रखने का—पहिरने का, कारण यह है कि ऋतुकाल में साध्वियों के ओढ़ने-पहिरने के वस्त्र रक्त-रंजित न हों, अतः उस समय उक्त दोनों वस्त्रों को उपयोग में लाने और शेष काल में समीप रखने का विधान किया गया है।

प्रश्न—साध्वियों के लिए कितने वस्त्र-पात्रादि रखने का विधान है ?

उत्तर—निर्युक्ति और भाष्यकार ने २५ प्रकार की उपधि के रखने का निर्देश किया है :

उनके नाम इस प्रकार हैं—१. पात्र, २. पात्रवन्ध, ३. पात्रस्थापन, ४. पात्रकेसरिका, ५. पटलक, ६. रजस्त्राण, ७. गोच्छक, (पात्र प्रमार्जक) तीन प्रच्छादक वस्त्र (८-१०) ११. रजोहरण, १२. मुखवस्त्रिका, १३. मात्रक, १४. कमढक (चोलपट्टकस्थानीय वस्त्र, शाटिका), १५. अवग्रहानन्तक (गुह्यस्थानाच्छकदक-लंगोटी), १६. अवग्रहपट्टक (लंगोटी के ऊपर कमर पर लपेटने का वस्त्र), १७. अर्द्धोसक (आधी जाँघों को ढँकने वाला जाँघिया जैसा वस्त्र), १८. चलनिका (अर्धोसिक से बड़ा, घुटनों को भी ढँकने वाला वस्त्र), १९. अभ्यन्तर निवसिनी (आधे घुटनों को ढँकने वाली), २०. वहिर्निवसनी (पैर की एड़ियों को ढँकने वाली), २१. कंचुक (चोली), २२. औपकक्षिकी (चोली के ऊपर बाँधी जाने वाली), २३. वैकक्षिकी (कंचुक और औपकक्षिकी को ढँकने वाली); २४. संघाटी (वसति में पहिरी जाने वाली), और २५. स्कन्धकरणी (कन्धे पर डालने का वस्त्र)। इस प्रकार आर्यिकाओं के २५ उपधि या उपकरण होते हैं।

भाष्यकार ने स्कन्धकरणी के साथ रूपवती साध्वियों को कुब्ज-करणी रखने या बाँधने का भी विधान किया है। इसका अभिप्राय यह है कि रूपवती साध्वी को देखकर कामुक पुरुष चल-चित्त हो सकते हैं, अतः रूपवती साध्वी को विकृतरूपा वनाने के लिए पीठ पर वस्त्रों की एक पोटली रखकर बाँध देते हैं जिससे कि वह कुबड़ी सी दिखने लगे। इसी कारण इस उपधि का नाम कुब्ज-करणी रखा गया है।

इसके अतिरिक्त साधु और साध्वी कम से कम और अधिक से अधिक कितने वस्त्र-उपधि रख सकते हैं, भाष्यकार ने,इसका भी तथा अन्य अनेक ज्ञातव्य विषयों का तथा करणीय कार्यों का भी वर्णन किया है। वह सब विशेष जिज्ञासुजनों को सभाष्य वृहत्कल्प सूत्र से जानना चाहिए।

निश्राप्रकृतम्

सूत्र १३

निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए, चेलट्ठे समुप्पज्जेज्जा,

नो से कप्पइ अप्पणो निस्साए चेलं[1] पडिग्गाहेत्तए।

कप्पइ से पवत्तिणी-निस्साए चेलं पडिग्गाहित्तए।

नो य से तत्थ पवत्तिणी सामाणा सिया

जे से तत्थ सामाणे आयरिए वा, उवज्झाए वा,

पवत्तए वा, थेरे वा, गणी वा, गणहरे वा, गणावच्छेइए वा,

जं चऽन्नं पुरओ कट्टु विहरति

कप्पइ से तन्नीसाए चेलं पडिग्गाहेत्तए ॥१३॥

निश्राप्रकरण

गृहस्थ के घर में आहार के लिए गई हुई निर्ग्रन्थी को यदि वस्त्र की आवश्यकता हो तो उसे अपनी निश्रा ("यह वस्त्र मैं अपने लिए ग्रहण कर रही हूँ"—इस संकल्प) से वस्त्र लेना नहीं कल्पता है।

किन्तु प्रवर्तिनी की निश्रा (मैं यह वस्त्र प्रवर्तिनी के चरणों में रख दूंगी, वह जिसे देना चाहेगी दे देगी। यदि वह न रखेगी तो मैं वापस तुम्हें लौटा दूंगी), से वस्त्र लेना कल्पता है।

यदि वहाँ प्रवर्तिनी विद्यमान न हो तो जो आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक या जो गीतार्थ वहाँ विद्यमान हो उसकी निश्रा से वस्त्र लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—यदि कोई साध्वी भक्त-पान लेने के लिए गृहस्थ के घर गई हो और उसके समीप अल्प वस्त्र होने से वस्त्र लेने की इच्छा उत्पन्न हो जाय तो उसे अपनी निश्रा से अर्थात् 'यह वस्त्र मैं मेरे लिए ग्रहण कर रही हूँ' इस प्रकार के विचार से स्वाधीन होकर गृहस्थ से वस्त्र लेना नहीं कल्पता है। किन्तु वह प्रवर्तिनी की निश्रा से ग्रहण कर सकती है, अर्थात् वह गृहस्थ से वस्त्र लेते समय स्पष्ट शब्दों में कहे कि 'मैं प्रवर्तिनीकी निश्रा से इसे ग्रहण करती हूं, यदि वे इसे स्वीकार कर मुझे या अन्य साध्वी को देंगी तो रखूंगी,

---

१ चेलाइं।

अन्यथा आपको वापस लौटा दिया जायेगा।' ऐसा कहकर ही वह गृहस्थ से वस्त्र को ग्रहण कर सकती है, अन्यथा नहीं। यदि उसकी प्रवर्तिनी उपाश्रय में या उस ग्राम में न हों तो जो आचार्य या उपाध्याय आदि सूत्रोक्त साधुजन समीप में हों उनकी निश्रा से वह वस्त्र को ग्रहण करे।

सूत्रोक्त आचार्य आदि का स्वरूप इस प्रकार है :

१. **आचार्य**—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करे और अपने अधीन शिष्यों से पालन करावे, जो साधु संघ का स्वामी और संघ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण में कुशल हो, लोक-स्थिति का वेत्ता हो, जातिमान् आदि आठ सम्पदाओं से युक्त हो।

२. **उपाध्याय**—जो स्वयं द्वादशांग श्रुत का अभ्यासी हो, अपने समीप आने वाले शिष्यों को प्रवचन पढ़ाता हो और धर्म का उपदेश देता हो।

३. **प्रवर्तक**—जो संघ को आचार्य-उपदिष्ट कार्यों में—तप, संयम, योग, वैयावृत्य, सेवा, शुश्रूपा, अध्ययन-अध्यापन आदि में संघ के साधुओं को उनके वलावल का विचार कर उन्हें प्रवर्तावे-नियुक्त करे।

४. **स्थविर**—जो संयम-सम्वन्धी योगों में शिथिलता या खिन्नता का अनुभव करने वाले साधुओं को इस लोक और परलोक सम्वन्धी उपाय (अनिष्ट या दोप) दिखाकर उन्हें अपने कर्तव्यों में स्थिर करे।

५. **गणी**—जो कुछ साधुओं के गण का स्वामी होकर उनके साथ विचरे।

६. **गणधर**—जो गण के सुख-दुःख की चिन्ता करे, उनके योग-क्षेम का विधायक हो।

७. **गणावच्छेदक**—गणकी—साधुजनों के भक्त-पान, स्थान औपधोपचार आदि की व्यवस्था करे।

उक्त सातों पदवी धारकों के क्रम का निरूपण करते हुए वताया गया है कि साध्वी को गृहस्थ से स्वयं की निश्रा से वस्त्र नहीं लेना चाहिए, किन्तु अपनी प्रवर्तिनी की निश्रा से लेना चाहिए। यदि वह न हो तो संघ के आचार्य की निश्रा से लेवे। उनके अभाव में उपाध्याय की निश्रा से लेवे। इस प्रकार पूर्व-पूर्व पद-धारकों के अभाव में उत्तर पद-धारकों की निश्रा से वस्त्र को लेवे। यदि उक्त पद-धारकों में से कोई भी समीप न हो तो जो और कोई गीतार्थ साधु हो, उसकी निश्रा से वस्त्र को लेवे। किन्तु साध्वी को गृहस्थ से स्वयं वस्त्र कभी नहीं लेना चाहिए।

त्रिकृत्स्नप्रकृतम्

सूत्र १४

निग्गंथस्स तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स
कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए
तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए ।
से य पुव्वोवट्ठिए सिया,
एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए
तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए ।
कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं[1] वत्थाइं गहाय-
आयाए संपव्वइत्तए ॥१४॥

त्रिकृत्स्नप्रकरण

गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाले निर्ग्रन्थ को रजोहरण गोच्छक और पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र अपने साथ लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है ।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुका हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक और पात्र तथा तीन अखण्डवस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं कल्पता है, किन्तु यथा परिगृहीत वस्त्रों को लेकर आत्मभाव से प्रव्रजित होना कल्पता है ।

विशेषार्थ—इस सूत्र में लघु (अल्पकालिकी) दीक्षा और वृहद् (यावज्जीवनकी) दीक्षा को ग्रहण करने वाले साधु के लिए बताया गया है कि वह किन-किन उपधियों को अपने साथ लेकर दीक्षा लेवे ।

जो सर्वप्रथम दीक्षित हो रहा है उसे अपने घर से या सगे-सम्वन्धियों के द्वारा दिये हुए रजोहरण, गोच्छग (प्रमार्जनिका या पात्रादि पोंछने का वस्त्र-खण्ड) और तीन कृत्स्न वस्त्र लेकर के आचार्य के समीप आकर दीक्षा लेना चाहिए ।

एक हाथ चौड़े और चौवीस हाथ लम्बे थान को कृत्स्न वस्त्र कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि वह रजोहरण आदि तीन नवीन उपकरणों के साथ बहत्तर हाथ लम्बे तीन थान लेकर के दीक्षित होवे । इसके पश्चात् जब उसकी बड़ी दीक्षा हो, या किसी व्रत-विशेष में दूषण लग जाने पर यह किसी महाव्रत

---

१ "अहापरिग्गहेहिं वत्थेहिं आयाए" इति भाष्ये ।

की विराधना हो जाने पर पुनः दीक्षा के लिए आचार्य के सम्मुख उपस्थित हो तो वह अपने पूर्व प्रतिगृहीत वस्त्र-पात्रादि के साथ ही दीक्षा ले सकता है, अर्थात् पहले के वस्त्र-पात्रादि को छोड़कर नवीन वस्त्र-पात्रादि के लाने की उसे आवश्यकता नहीं है।

नवीन दीक्षा लेने वाले के लिए भाष्यकार ने बताया है कि उसे दीक्षा लेने के पूर्व सर्व श्रमण-संघ का (वस्त्र, पात्रादि से) सत्कार करना चाहिए। यदि इतना सामर्थ्य न हो तो जिस गच्छ में दीक्षित होने वाला हो, उसका उक्त द्रव्यों से सत्कार करे। उसकी भी सामर्थ्य न होने पर आचार्य उपाध्याय, प्रवर्तक और संघाटक का वस्त्र-पात्रादि से सत्कार करे।

इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वह तीन कृत्स्न वस्त्र तो अपने लिए और चार कृत्स्न वस्त्र क्रमशः आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक और संघाटक के लिए लेकर दीक्षा के लिए उपस्थित हो। यदि चार कृत्स्न वस्त्र लाने की सामर्थ्य न हो तो यथाशक्ति तीन, दो या एक ही वस्त्र लेकर के दीक्षित हो। यदि ऐसा भी सम्भव न हो तो आचार्य ही उसे वस्त्र-पात्रादि देते हैं।

सूत्र १५

निग्गंथीए णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणीए
कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए
चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।
सा य पुव्वोवट्ठिया सिया,
एवं से नो कप्पइ रयहरण-गोच्छग-पडिग्गहमायाए
चउहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए।
कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय-
आयाए संपव्वइत्तए ॥१५॥

गृहवास त्यागकर सर्वप्रथम प्रव्रजित होने वाली-निर्ग्रन्थी को रजोहरण, गोच्छक और पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र अपने साथ लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पहले दीक्षित हो चुकी हो तो उसे रजोहरण, गोच्छक और पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं कल्पता है, किन्तु यथा परिगृहीत वस्त्रों को लेकर आत्मभाव से प्रव्रजित होना कल्पता है।

विशेषार्थ—इस सूत्र का पूर्व सूत्र के समान ही सर्व कथन जानना चाहिए। केवल इतना विशेष है कि नवीन दीक्षा लेने वाली साध्वी को चार या पाँच कृत्स्न वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना चाहिए। (चूर्णि और भाष्यकार) कहते हैं कि उक्त चार वस्त्र तो उसके अपने लिए हैं। इनके अतिरिक्त उसे चार या पाँच कृत्स्न वस्त्र आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी और संघाटक साध्वी को देने के लिए लाना चाहिए। यदि शक्ति न हो तो अपनी शक्ति के अनुसार तीन, दो या एक लावे। यदि औरों को देने की बात तो दूर रहे—अपने लिए भी उक्त उपकरण वस्त्रादि लाने का सामर्थ्य न हो तो आचार्य उसे उक्त उपकरणादि देवें।

समवसरणप्रकृतम्

सूत्र १६

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-
पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहेत्तए ॥१६॥

समवसरणप्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को प्रथम समवसरण में वस्त्र ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १७

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-
दोच्चसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहेत्तए ॥१७॥

किन्तु निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को द्वितीय समवसरण में वस्त्र ग्रहण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—समवसरण शब्द का अर्थ है—सर्व ओर से आना चातुर्मास करने के लिए साधु और साध्वियाँ वर्षाकाल बिताने के योग्य किसी एक स्थान पर आकर एकत्रित होते हैं, अतः उसे प्रथम समवसरण कहा जाता है और वर्षाकाल या चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् के काल को द्वितीय समवसरण कहा जाता है।

जिस स्थान पर साधु और साध्वियों का चातुर्मास करना निश्चित हुआ है, उस स्थान पर आने के पश्चात् पूरे वर्षाकाल तक अर्थात् आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा से लेकर कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक गृहस्थों से वस्त्र लेना नहीं

कल्पता है। किन्तु वर्षाकाल विताने के पश्चात् दूसरे समवसरण में अर्थात् मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा से लेकर आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा पर्यन्त आठ मास तक जिस देश और जिस काल में उन्हें वस्त्रों की आवश्यकता हो—गृहस्थों से ले सकते हैं।

इस सूत्र में पठित 'वस्त्र' पद देशामर्शक है, अतः पात्र फलक, रजोहरण आदि जो-जो उपधि साधु-साध्वी के लिए आवश्यक हैं, उन्हें वे चातुर्मास के काल में नहीं ले सकते हैं; उसके पश्चात् ले सकते हैं। इस विषय का तथा चातुर्मास सम्वन्धी अन्य सभी ज्ञातव्य वातों का विशद वर्णन निर्युक्ति और भाष्यकार ने किया है।

यथा रत्नाधिक-वस्त्र-परिभाजन-प्रकृतम्

सूत्र १८

कप्पइ निग्गंयाण वा निग्गंथीण वा—
अहाराइणियाए चेलाइं पडिग्गाहित्तए ॥१८॥

यथा रत्नाधिक वस्त्र परिभाजन प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को (चारित्र) रत्न पर्याय के क्रम से वस्त्र-ग्रहण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—रत्न नाम चारित्र-पर्याय का है।

चारित्र पर्याय जिस साधु या साध्वी की अधिक हो उसे रात्निक या रत्नाधिक कहते हैं। जव कभी साधु या साध्वी वस्त्रों को गृहस्थ से लेवें तो उन्हें चारित्र-पर्याय की हीनाधिकता के क्रमानुसार ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् जो साधु या सांध्वी सवसे अधिक चारित्र पर्याय वाले हैं, उन्हें सर्वप्रथम वस्त्र प्रदान करना चाहिए। तत्पश्चात् उनसे कम चारित्र पर्याय वाले को और तदनन्तर उनसे कम चारित्र पर्याय वाले को देना चाहिए। यहाँ पर भी वस्त्र पद देशामर्शक है, अतः पात्रादि अन्य उपधियों को भी चारित्र-पर्याय की हीनाधिकता से लेना और देना चाहिए। क्योंकि व्युत्क्रम से देने या लेने में रत्नाधिकों का अविनय, आशातना आदि होती है, जो कि साधु-मर्यादा के प्रतिकूल है। व्युत्क्रम से देने और लेने वाले साधु-साध्वियों के लिए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का विधान किया है।

यथारत्नाधिक शय्या-संस्तारक-परिभाजन-प्रकृतम्

सूत्र १९

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा-
अहारायणियाए सेज्जा-संथारए पडिग्गाहित्तए ॥१९॥

यथा रत्नाधिक शय्या-संस्तारक-परिभाजन प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को (चारित्र) रत्न पर्याय के क्रम से शय्या संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

विशेषार्थ—शय्या नाम वसति या उपाश्रय का है। उसमें ठहरने पर साधुओं या साध्वियों के संस्तारक (सोने वैठने का विस्तर या आसन) चारित्र-पर्याय की हीनाधिकता के क्रम से शय्या संस्तारक ग्रहण करना चाहिए।

निर्युक्ति और भाष्यकार ने यथारात्निक शय्या-संस्तारक का विधान करते हुए इतना और स्पष्ट किया है कि आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तक इन तीन गुरुजनों की क्रमशः शय्या-संस्तारक के पश्चात् जो ज्ञानादि सम्पदा को प्राप्त करने के लिए अन्य गण से साधु आया हुआ है, उसके शय्या संस्तर को स्थान देना चाहिए। तत्पश्चात् ग्लान (रुग्ण) साधु को, तत्पश्चात् अल्प उपधि (वस्त्र) वाले साधु को, तत्पश्चात् क्षपक (कर्मक्षयार्थ उद्यत) साधु को, तदनन्तर अपावृत्त (जिसने रातभर वस्त्र नहीं ओढ़ने का अभिग्रह लिया है ऐसे) साधु को, तदनन्तर स्थविर को (जो कि शास्त्राभ्यास से या आयु से वृद्ध हो) तदनन्तर गणी, गणधर, गणावच्छेदक और अन्य साधुओं को शय्या-संस्तर के लिए स्थान ग्रहण करना चाहिए।

यहाँ इतना और विशेष वताया गया है कि क्षुल्लक (नव दीक्षित या अल्प आयु वाले) साधु को रत्नाधिक साधु के समीप सोने का स्थान देना चाहिए जो रात में उसकी सार-सम्भाल कर सके।

इसी प्रकार वैयावृत्य करने वाले साधु को ग्लान साधु के समीप स्थान देना चाहिए। जिससे कि वह रोगी साधु की यथासमय परिचर्या कर सके।

तथा शास्त्राभ्यास करने वाले शैक्ष साधु को उपाध्याय आदि जिसके समीप वह अध्ययन करता हो उसे स्थान देना चाहिए जिससे कि वह जागरण काल में अपने पाठ-परिवर्तनादि करते समय उनसे साहाय्य प्राप्त कर सके।

कृतिकर्मप्रकृतम्

सूत्र २०

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—

अहारायणियाए किइकम्मं करेत्तए ॥२०॥

कृतिकर्म प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को (चारित्र) रत्न-पर्याय के क्रम से वन्दन करना कल्पता है।

विशेषार्थ—प्रातः सायंकाल आदि समयों में प्रतिक्रमण आदि के अवसर पर गुरु एवं रत्नाधिकों का जो विनय, वन्दन, आदि किया जाता है, उसे कृतिकर्म कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—अभ्युत्थान और वन्दनक।

आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों को एवं जो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हैं, उनके गमन-आगमन काल में उठकर खड़े होना अभ्युत्थान परिकर्म है।

प्रातःकाल, सायंकाल एवं प्रतिक्रमण करते समय तथा किसी प्रश्न आदि के पूछते समय गुरुजनों को वन्दना करना, हाथ जोड़कर मस्तक पर अंजली लगाकर नमस्कार आदि करना वन्दनक कृतिकर्म है।

भाष्यकार ने इसका वर्णन करते हुए कहा है कि यथाजात बालक के समान सरल (निष्कपट) भाव से प्रतिक्रमण के पूर्व और अन्त में नमस्कार करना और प्रत्येक दिशा में तीन-तीन आवर्त करते हुए मस्तक से पंचांग नमस्कार करना चाहिए।

दोनों हाथों को जोड़कर प्रदक्षिणा क्रम से घुमाने को 'आवर्त' कहते हैं। मन, वचन, काय की शुद्धिपूर्वक अपनी भक्ति प्रकट करने के लिए ये आवर्त किये जाते हैं।

चारों दिशाओं में करने का अभिप्राय यह है कि उस-उस दिशा में जहाँ पर जो भी पंचपरमेष्ठी, गुरुजन एवं रत्नाधिक साधु विद्यमान हैं, उन्हें भी मैं त्रियोग की शुद्धि एवं भक्ति से वन्दन एवं नमस्कार करता हूँ। इस प्रकार गुरुजनों के समीप आने पर साधु और साध्वियों को दीक्षापर्याय के अनुसार उनकी यथोचित वन्दना आदि कृतिकर्म करना चाहिए।

इस कृतिकर्म के विषय में सम्प्रदाय-भेद से अनेक प्रकार की व्याख्याएँ

उपलब्ध हैं सो उन्हें जानकर सम्प्रदाय के अनुसार यथारत्नाधिक का कृतिकर्म करना आवश्यक बताया गया है। भाष्यकार ने कृतिकर्म के ३२ दोषों का भी विशद वर्णन किया है और अन्त में लिखा है कि इन सब दोषों से रहित हो कृतिकर्म करना चाहिए, अन्यथा वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

अन्तरगृहस्थानादिप्रकृतम्

सूत्र २१

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—
अंतरगिहंसि आसइत्तए वा, चिट्ठित्तए वा, निसीइत्तए वा, तुयट्टित्तए वा,
निद्दाइत्तए वा, पयलाइत्तए वा,
असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा आहारमाहारेत्तए,
उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवेत्तए,
सज्झायं वा करित्तए, झाणं वा झाइत्तए,
काउसग्गं वा करित्तए ठाणं वा ठाइत्तए।
अह पुण एवं जाणिज्जा—
वाहिए, जराजुण्णे, तवस्सी, दुब्बले, किलंते
मुच्छेज्ज वा, पवडेज्ज वा
एवं से कप्पइ अंतरगिहंसि आसइत्तए वा जाव—
ठाणं वा ठाइत्तए ॥२१॥

अन्तर गृहस्थानादि प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में या दो घरों के मध्य में ठहरना, बैठना यावत् खड़े होकर कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता है।

यदि वह यह जाने कि—मैं व्याधि-ग्रस्त, जरा-जीर्ण, तपस्वी या दुर्बल हूँ।

अथवा (भिक्षाटन से) क्लान्त होकर मूर्छित हो जाए या गिर पड़े तो उसे गृहस्थ के घर में या दो घरों के मध्य में ठहरना यावत् कायोत्सर्ग कर स्थित होना कल्पता है।

विशेषार्थ—भाष्यकार ने सूत्र-पठित गृहान्तर के दो प्रकार बताये हैं—सद्भाव गृहान्तर और असद्भाव गृहान्तर।

दो घरों के मध्यवर्ती भाग को 'सद्भावगृहान्तर' कहते हैं और घर का एक पार्श्व, पुरोहड (द्वार के आगे का भाग) आंगन या घर का मध्य भाग है

उसे 'असद्भावगृहान्तर' कहते हैं। भिक्षार्थ निकले हुए साधु को ऐसे दोनों ही प्रकार के गृहान्तरों में ठहरना, बैठना आदि सूत्रोक्त कार्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसे स्थानों पर उक्त कार्य करने से गृहस्थों को नाना प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। यह उत्सर्ग मार्ग है।

अपवाद रूप में बताया गया है कि यदि कोई साधु रोगी हो, अतिवृद्ध हो, तपस्या से जर्जरित या दुर्बल हो, या मूर्च्छा आ जाय, या गिर पड़ने की सम्भावना हो तो वह कुछ क्षण के लिए उक्त दोनों प्रकार के गृहान्तरों में ठहर सकता है।

सूत्र-पठित इस अपवाद का आश्रय करके भाष्यकार ने कुछ और भी कारण ठहरने के बताये हैं। जैसे किसी रोगी के लिए औषधि लेने के लिए किसी घर में कोई साधु जावे और औषधि-दाता घर से बाहर हो, उस समय घर वाले कहें—कुछ समय ठहरिये, औषधिदाता आने ही वाले हैं, अथवा घर में प्रवेश करने के पश्चात् पानी बरसने लगे, या उसी समय मार्ग से राजा आदि की सवारी या किसी की बारात आदि निकलने लगे तो उक्त कारणों की निवृत्ति तक साधु सूत्र-प्रतिपादित कार्यों को नहीं करता हुआ यतनापूर्वक, विकथा आदि नहीं करता हुआ अर्थात् मौन रहकर ठहर सकता है।

अन्तरगृहाख्यानादिप्रकृतम्

सूत्र २२

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि जाव—
चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा, विभावित्तए वा,
किट्टित्तए वा, पवेइत्तए वा
नन्नत्थ एगनाएण वा एगवागरणेण वा
एगगाहाए वा एगसिलोएण वा,
सेवि य ठिच्चा, नो चेव णं अठ्ठिच्चा ॥२२॥

अन्तर गृहाख्यानादि प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को गृहस्थ के घर में या दो घरों के मध्य में चार या पाँच गाथाओं का आख्यान (उच्चारण करना) विभावन (पदच्छेद करना) उत्कीर्तन (सूत्रार्थ का कथन) या प्रवेदन (धर्माचरण का फल कथन) करना नहीं कल्पता है।

(यदि किसी की उत्कट जिज्ञासा हो तो) केवल एक उदाहरण, एक प्रश्नोत्तर, एक गाथा या एक श्लोक का आख्यान यावत् प्रवेदन करना कल्पता है।

वह भी एक स्थान पर स्थित होकर, अस्थिरता से नहीं।

विशेषार्थ—उत्सर्ग मार्ग तो यही है कि गौचरी के लिए गया हुआ साधु या साध्वी दो घरों के वीच में या किसी गृहस्थ के घर के द्वार आगे या भीतर आंगन आदि में खड़ा होकर गाथा-श्लोक आदि का उच्चारण ही न करे।

भाष्यकार ने इसका कारण वताया है कि जहाँ पर साधु खड़ा होगा वहाँ से यदि किसी की कोई वस्तु चोरी चली जायेगी तो उसका स्वामी यह लांछन लगा सकता है कि यहाँ पर अमुक साधु या साध्वी खड़े रहे थे अतः वे ही मेरी अमुक वस्तु ले गये हैं, इत्यादि।

इसके अतिरिक्त किसी गृहस्थ को अशुद्ध गाथा वोलते हुए सुनकर यदि साधु कहे कि तुमने तो इस गाथा का अशुद्ध उच्चारण किया है या तुमने अधूरी गाथा वोली है, पट्टी लाओ मैं पूरी लिखकर वताता हूँ, तुमने तो केवल अक्षर ही रटे हैं, अर्थ नहीं जानते हो, इत्यादि वोलते हुए जो वहाँ आक्षेप-व्याक्षेप में समय व्यतीत होता है उससे उसके साथी, साधु जो कि एक मण्डली में वैठकर भोजन करते हैं, वे प्रतीक्षा करते रहेंगे, अतः उनके यथासमय भोजन न कर सकने से वह अन्तराय का भागी होता है, दूसरे यदि वह किसी रोगी साधु से यह कहकर आया है कि आज मैं तुम्हारे लिए योग्य भक्त पान लाऊँगा, फिर वाद-विवाद में पड़कर समय पर वापस नहीं पहुँच सकने से वह भूख-प्यास से पीड़ित होकर और अधिक संताप को प्राप्त होगा, इत्यादि कारणों से गौचरी को गये हुए साधु और साध्वी को कहीं भी ठहर कर गाथाओं का उच्चारणादि नहीं करना चाहिए अन्यथा वह चतुर्लघु से लेकर यथासम्भव अनेक प्रायश्चित्तों का पात्र होगा।

अपवाद रूप में यह वताया गया है कि यदि कोई जिज्ञासु गौचरी को गये साधु या साध्वी से पूछे कि धर्म का लक्षण क्या है ? तव वह **'अहिंसा लक्षण धर्म है'** इतनी मात्र आधी गाथा से संक्षिप्त उत्तर देवे।

यदि कोई पुनः पूछे कि धर्म की कुछ व्याख्या कीजिए। तव इतना मात्र कहे कि **जो वात तुम अपने लिए इष्ट या अनिष्ट मानते हो वह दूसरे के लिए भी वैसी ही समझो**, वस इतना ही जैन शासन का सार है।

यदि जिज्ञासु उक्त कथन की पुष्टि में कोई प्रमाण पूछे तो उक्त अर्थ-द्योतक एक गाथा या दो गाथा[1] को कहे। वह भी खड़ा-खड़ा ही कहे, बैठकर नहीं। अधिक से अधिक वह चार या पाँच गाथा या श्लोकों का उच्चारण करे, अधिक का नहीं। अन्यथा उपर्युक्त कारणों से प्रायश्चित्त का भागी होगा।

सूत्र २३

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अंतरगिहंसि,
इमाइं पंच महव्वयाइं सभावणाइं, आइक्खित्तए वा,
विभावित्तए वा, किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा,
नन्नत्थ एगनाएण वा जाव—एगसिलोएण वा,
से वि य ठिच्चा, नो चेव णं अट्ठिच्चा ॥२३॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों का गृहस्थ के घर में या दो घरों के मध्य में भावना सहित इन पाँच महाव्रतों का उच्चारण यावत् महाव्रताचरण का फल कथन करना नहीं कल्पता है।

(यदि किसी की उत्कट जिज्ञासा हो तो) केवल एक उदाहरण, एक प्रश्नोत्तर, एक गाथा या एक श्लोक का आख्यान यावत् प्रवेदन करना कल्पता है।

वह भी एक स्थान पर स्थित होकर, अस्थिरता से नहीं।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्र में किसी के द्वारा पूछे जाने पर अधिक से अधिक गाथा या श्लोक रूप में ग्रथित या रचित चार या पाँच पद्यों के उच्चारण का निर्देश किया गया था। प्रस्तुत सूत्र में ग्रथित या अग्रथित अर्थात् पद्य या गद्य रूप से उनके विशेष कथन का निर्देश किया गया है कि साधु और साध्वियों को गृहान्तर में पाँचों महाव्रतों का उनकी भावनाओं के साथ आख्यान (मूल पाठ का उच्चारण), विभावन (अर्थ का प्रतिपादन), कीर्तन (लौकिक लाभों का

---

१ टिप्पणी—१. सव्वारंभ—परिग्गहणिक्खेवो, सव्वभूतसमया य।
एक्कग्गहण—समाहाणया य अह एत्तिओ मोक्खो ॥
२. सव्वभूतप्पभूतस्स सम्मं भूताइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधई ॥
(बृह० भा० ४ गा० ४५८५-८६)

वर्णन करना) और प्रवेदन (स्वर्ग मोक्षादि पारलौकिक फल का प्रकट करना) नहीं कल्पता है।

भाष्यकार ने इसका कारण बताते हुए लिखा है कि यदि साधु महाव्रतों का विस्तार से उपदेश करने लग जाय और उसे सुनने वाली गर्भिणी स्त्री जब तक वहाँ बैठी रहती है तब तक गर्भस्थ जीव के आहार पान के निरोध से यदि उसका विनाश हो जाय तो वह उपदेष्टा उसकी हिंसा का भागी होता है।

अथवा उसी समय कोई घर की स्त्री दीर्घशंका निवारणार्थ चली जावे और उससे द्वेष रखने वाली उसकी सौत या अन्य विद्वेषिणी स्त्री उसके बच्चे को मार के साधु या साध्वी के सम्मुख लाकर पटक दे और चिल्लाने लगे कि इस साधु ने इसको मार डाला है। ऐसे अवसर पर लोगों को प्राण-घात करने की आशंका हो सकती है। इसी प्रकार कभी किसी के पूछने पर साधु ने कहा हो कि उसे गृहस्थ के घर पर उपदेश देना नहीं कल्पता है, पीछे किसी के यहाँ उपदेश देवें तो मृषावाद का भी दोष लगता है।

साधु के उपदेश-काल में घर की दासी अवसर पाकर किसी आभूषणादि को चुरा ले जाय, पीछे साधु के चले जाने पर गृहस्वामी उस पर चोरी का दोष लगावे।

किसी स्त्री का पति विदेश गया हो और वह उपदेश सुनने के छल से कुछ देर साधु को ठहरा करके मैथुन-सेवन की प्रार्थना करे और साधु का चित्त चल-विचल हो जाय, वह स्त्री अच्छे वस्त्र-पात्रादि देने का प्रलोभन देकर साधु को प्रलोभित करे, इत्यादि कारणों से साधु के महाव्रतों में ही दोष लगता है, अतः भगवान ने गृहस्थ के घर पर पाँचों महाव्रतों के आख्यान, विभावनादि का निषेध किया है। यदि कभी कोई रुग्ण-जिज्ञासु महाव्रतों के स्वरूप आदि के विषय में पूछे तो एक दृष्टान्त से, या जिस महाव्रत के विषय में पूछे, उसके उत्तर से, या एक गाथा से या एक श्लोक से अधिक न कहे। वह भी खड़े-खड़े ही कहना चाहिए, बैठकर नहीं। अन्यथा वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

शय्या-संस्तारक-प्रकृतम्

सूत्र २४

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पाडिहारियं सागारिसंतयं सेज्जा-संथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए ॥२४॥

शय्या संस्तारक प्रकरण

प्रातिहारिक शय्या संस्तारक जो ग्रहण किया है उसे कार्य समाप्त होने पर स्वामी को सौंपे बिना ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—साधु के सर्वांग शरीर-प्रमाण पीठ-फलक-तृण आदि को शय्या कहते हैं और अढ़ाई हाथ प्रमाण वाले पीठ-फलक-तृण आदि को संस्तारक कहते हैं।

जो शय्या संस्तारक गृहस्थ के घर से वापस लौटाने की कहकर लाये जाते हैं उन्हें प्रातिहारिक कहते हैं। साधु जब किसी ग्राम में पहुँचता है तो अपने योग्य शय्या संस्तारक गृहस्थ के घर से वापस सौंपने की कहके माँग कर लाता है। वह शय्या-संस्तारक गृहस्थ को वापस सौंपे बिना ग्रामान्तर को जाना साधु या साध्वी के लिए योग्य नहीं है। यदि वह जाता है तो प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

यहाँ शय्या-संस्तारक पद उपलक्षण रूप है अतः वापस सौंपने की कह कर जो भी वस्तु गृहस्थ के घर से साधु और साध्वी लावे उसे वापस सौंप करके ही अन्यत्र विहार करना चाहिए।

सूत्र २५

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—
पाडिहारियं सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए
अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥२५॥

सागारिक का शय्या संस्तारक जो ग्रहण किया है उसे कार्य समाप्त होने पर 'अविकरण' रखकर ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है।

सूत्र २६

कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा—
पाडिहारियं सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए
विगरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥२६॥

किन्तु सागारिक का शय्या संस्तारक जो ग्रहण किया है, उसे कार्य समाप्त होने पर 'विकरण' करके ग्रामान्तर गमन करना निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को कल्पता है।

विशेषार्थ—गृहस्थ के घर से शय्या संस्तारक आदि लाते समय वे जहाँ पर और जिस प्रकार से रखे थे, उन्हें उसी प्रकार से रखकर सौंपने को 'विकरण' कहते हैं।

यदि उसी स्थान पर और उसी प्रकार से न रखकर सौंपे जावें तो इसे 'अविकरण' कहते हैं।

इस सूत्र द्वारा यह निर्देश किया गया है कि शय्या-संस्तारक आदि लाते समय जहाँ जैसे रखे थे, जाते समय उन्हें उसी स्थान पर और उसी प्रकार से रखे और स्वामी को सौंपकर ग्रामान्तर को विहार करे। अन्यथा वह साधु या साध्वी प्रायश्चित का पात्र होता है।

सूत्र २७

इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा—
पाडिहारिए सागारियसंतिए सेज्जासंथारए विप्पणसेज्जा[1],
से य अणुगवेसियव्वे सिया,
से य अणुगवेसमाणे लभेज्जा
तस्सेव पडिदायव्वे सिया।
से य अणुगवेसमाणे नो लभेज्जा
एवं से कप्पइ दोच्चंपि उग्गहं अणुण्णवेत्ता
परिहारं परिहरित्तए ॥२७॥

प्रातिहारिक या सागारिक का शय्या संस्तारक यदि गुम हो जाय तो निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को उसका अन्वेषण करना चाहिए।

अन्वेषण करने पर कदाचित् (शय्या-संस्तारक) मिल जाय तो जिसका हो उसी को देना चाहिए।

अन्वेषण करने पर कदाचित् न मिले तो दूसरा शय्या-संस्तारक सागारिक दे उसकी दूसरी बार आज्ञा लेकर उपयोग में लेना कल्पता है।

अन्वेषण करने पर वह विनष्ट शय्या संस्तारक सागारिक को मिल जाय तो (निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को) उसकी भी दूसरी बार आज्ञा लेकर उपयोग में लेना कल्पता है।

विशेषार्थ—निर्युक्तिकार ने बताया है कि साधु गृहस्थ के घर से जो

---

१ परिभट्ठेसिया।

भी शय्या-संस्तारक आदि माँग कर लावे उसकी सावधानी से रक्षा के लिए कभी उपाश्रय को सूना न छोड़े। गोचरी आदि के लिए बाहर जाने पर किसी न किसी को उपाश्रय की रक्षा के लिए नियुक्त कर जावे। फिर भी कायिकी बाधा के निवारणार्थ यदि उसके इधर-उधर होने पर या पठन-पाठनादि में चित्त संलग्न होने पर आँख बचाकर कोई ले जाय, अथवा गृहस्थ के घर से लाते समय या वापस देते समय ही कोई हाथ से छीनकर भाग जाय, या उसे धूप देने के लिए बाहर डालने पर उठा ले जाय, इत्यादि किसी भी कारण से वह नष्ट हो जाय तो साधु उसकी तत्काल गवेषणा करे। अन्वेषण करते हुए यदि ले जाने वाला मिल जावे तो उससे उसे देने के लिए कहे—हे भद्र! यह आप जैसे भले मनुष्य से माँग कर मैं लाया हूँ, यदि ज्ञात या अज्ञात रूप से आप ले आये हैं तो हमें वापस देवें। उसके नहीं देने के भाव दिखने पर धार्मिक कथा कहकर उसे देने के लिए सरल परिणामी भी बनावे।

यदि फिर भी देने के लिए उद्यत न हो तो उसे पारितोषिक आदि दिलाने की बात कहे।

यदि वह राज्याधिकारी हो और माँगने पर भी न दे तो उसके लिए मंत्र या निमित्त का प्रयोग करे। इस प्रकार जैसे भी साधु-चर्योचित उपायों से सम्भव हो उसे वापस लाने का प्रयत्न करे।

यदि फिर भी वह न देवे तो ऊपर के अधिकारियों तक सूचना भेजकर वापस मँगाने का प्रयत्न करे। फिर भी नहीं मिलने पर या ले जाने वाले का पता नहीं चलने पर जिस गृहस्थ के यहाँ से वह शय्या-संस्तारकादि लाया गया है उसको उसके अपहरण की बात कहे।

यदि वह किसी प्रकार से उसे वापस ले आवे तो उसकी दूसरी बार याचना करके लावे। यदि उसे भी वह न मिले तो दूसरे शय्या संस्तारक की याचना करे।

यदि वह साधु ऐसा नहीं करता है तो प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

अन्त में, भाष्यकार ने यह भी लिखा है कि शय्या-संस्तारक का स्वामी राजा के द्वारा देश से निकाल दिया गया हो, या वह अपने कुटुम्ब-परिवार को लेकर अन्यत्र चला गया हो, अथवा कालगत हो गया हो, अथवा रोग, वृद्धावस्था आदि के कारण साधु स्वयं गवेषणा करने में असमर्थ हो, या इसी प्रकार का और कोई कारण आ जाय तो वैसी अवस्था में साधु प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता है।

अवग्रहप्रकृतम्

सूत्र २८

जद्दिवसं च णं समणा निग्गंथा सेज्जासंथारयं विप्पजहंति
तद्दिवसं च णं अवरे समणा निग्गंथा हव्वमागच्छेज्जा,
स च्चेव ओग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ
अहालंदमवि उग्गहे ॥२८॥

अवग्रह प्रकरण

जिस दिन श्रमण-निर्ग्रन्थ शय्या-संस्तारक छोड़कर विहार कर दें और उसी दिन या उसी समय दूसरे श्रमण-निर्ग्रन्थ आ जावें तो पूर्व गृहीत आज्ञा से शय्या-संस्तारक ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि अवग्रह 'यथालन्दकाल' का होता है।

विशेषार्थ—जिस उपाश्रय में साधु मासकल्प या वर्षाकल्प तक की आज्ञा लेकर रहे हैं, वे जिस दिन अन्यत्र विहार करें और उसी दिन अन्य साधु उस उपाश्रय में ठहरने के लिए आ जावें तो वे 'यथालन्दकाल' तक उपाश्रय के स्वामी की आज्ञा लिए विना ठहर सकते हैं, उनके लिए उतने काल तक पूर्व में रहने वाले साधुओं के द्वारा गृहीत अवग्रह ही माना जायेगा।

यथालन्दकाल की सीमा गीले हाथ की रेखा सूखे—जितने समय से लेकर यद्यपि पाँच दिन तक की मानी गयी है, तथापि यहाँ पर निर्युक्तिकार ने यथालन्दकाल की मर्यादा के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहा है, यथा-पूर्व में रहने वाले साधु जिस दिन जितने समय पर जावें उस समय से लगाकर दूसरे दिन के उसी समय तक अर्थात् आठ पहर या तीस मुहूर्त का 'यथालन्दकाल' कहा है।

कुछ आचार्य 'यथालन्दकाल' की सीमा जिस दिन साधु जावें उस पूरे दिन की कहते हैं, अतः रात में विना अवग्रह लिए ठहरना नहीं कल्पता है।

कुछ आचार्य कहते हैं कि उक्त उपाश्रय में पूर्व-स्थित साधुओं के चले जाने पर नये आये साधु एक अहोरात्र विना अवग्रह के ठहर सकते हैं अर्थात् उनके मत से पूर्व अवग्रह की मर्यादा एक अहोरात्र है दूसरे दिन सूर्योदय होने पर अवग्रह समाप्त हो जाता है। किन्तु निर्युक्तिकार ने इन दोनों ही काल-मर्यादाओं को अनादेश (स्वीकृत नहीं किया) कहा है।

सूत्र २६

अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावन्नए
अचित्ते परिहरणारिहे स चेव उग्गहस्स
पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ, अहालंदमवि उग्गहे ॥२६॥

यदि उस उपाश्रय में श्रमण निर्ग्रन्थ उपयोग योग्य अचित्त पदार्थ विस्मृत हो गए हों या छोड़ गये हों तो (नवागन्तुक श्रमण) पूर्वगृहीत आज्ञा से ग्रहण कर सकते हैं, क्योंकि अवग्रह 'यथालन्दकाल' का होता है।

विशेषार्थ—निर्युक्तिकार ने 'उपाश्रय-पर्यापन्न' की व्याख्या तीन प्रकार से की है।

प्रथम प्रकार में तो-जिस उपाश्रय को छोड़कर साधुजन अन्यत्र विहार कर गये हों, वहाँ पर वे कोई शय्या-संस्तारक, वस्त्र या भक्त-पान की कोई अचित वस्तु भूल गये हों, तो शय्या-संस्तारक आदि त्रसादिजीवों से रहित हों तो नवीन आये हुए साधु उसे अपने काम में ले सकते हैं, क्योंकि वे पूर्व साधुओं के द्वारा गृहस्थ से याचना करके लाये हुए हैं।

शय्या-संस्तारक के अतिरिक्त यदि वहाँ कोई वस्त्र पड़ा हुआ हो तो उसे किसी सुरक्षित स्थान पर रख देवे और तीन दिन तक उसके लेने वाले स्वामी के आने की प्रतीक्षा करे। यदि वह तीन दिन तक न आवे और वह किसी रोगी साधु के लिए आवश्यक हो तो ले सकते हैं।

यदि आगन्तुकागार में भक्त-पान की कोई अचित्त (प्रासुक) वस्तु रखी मिले तो उसे सुरक्षित रखकर अपरान्ह काल तक उसे लेने को आने वाले साधु की प्रतीक्षा करे। यदि वह न आवे तो उसे भी पूर्व अनुज्ञापित मानकर काम में ले सकते हैं।

यदि वहाँ पर कुछ अर्थजात (द्रव्य) रखा मिले तो भाष्य में कही गयी विधि के अनुसार आचरण करे।

सूत्रोक्त उपाश्रय पद की दूसरे प्रकार की व्याख्या में बताया गया है कि यदि वह उपाश्रय 'आगन्तुकागार' है अर्थात् जिसमें आकर कोई भी पथिकआदि ठहर सकता है, ऐसी धर्मशाला, सराय आदि का स्थान है, और वहाँ पर शय्या-संस्तारक आदि परित्यक्त या विस्मृत मिलें तो उनके विषय में भी साधु को पूर्व के समान ही प्रतीक्षा करके उन्हें काम में लेने या न लेने का निर्णय करना चाहिए।

उपाश्रय-पर्यायन्नका तीसरा अर्थ यह किया गया है कि यदि कोई गृहस्थ अपना घर धर्मशाला, उपाश्रय आदि के रूप में देकर या छोड़कर चला गया है और उसमें जो उसके शय्या-संस्तारक हैं उनको लेने के लिए उस गृहस्थ की पूर्वोक्तकाल तक आने की प्रतीक्षा करनी चाहिए। पीछे यथाकल्प उपयोग में लेना चाहिए।

उक्त तीनों ही प्रकार के उपाश्रयों में परित्यक्त या विस्मृत शय्या-संस्तारक आदि परिभोग्य वस्तु के ग्रहण की पूर्वानुज्ञापना है।

सूत्र ३०

से वत्थूसु-
अव्वावडेसु अव्वोगडेसु अपरपरिग्गहिएसु अमरपरिग्गहीएसु
सच्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ
अहालंदमवि उग्गहे ॥३०॥

जो गृह-काम में न आ रहा हो, कुटुम्ब द्वारा विभाजित न हो, जिस पर किसी अन्य पक्ष का प्रभुत्व न हो अथवा किसी देव द्वारा अधिकृत हो तो उस गृह का जो पहले का स्वामी हो उसकी आज्ञा से ठहर सकते हैं, क्योंकि अवग्रह 'यथालन्दकाल' का होता है।

विशेषार्थ—जो घर जीर्ण-शीर्ण होने से या गिर जाने से किसी के द्वारा उपयोग में नहीं आ रहा है। उसे **अव्यापृत** कहते हैं।

जो घर अनेक स्वामियों का होने से किसी के द्वारा भी अपने अधीन नहीं किया गया है, उसे **अव्याकृत** कहते हैं।

जो घर किसी व्यक्ति के द्वारा परिगृहीत नहीं है, किन्तु विना स्वामी का है, उसे **अपरपरिगृहीत** कहते हैं।

जो घर किसी कारण-विशेष से निर्माता के द्वारा छोड़ दिया गया है और जिसमें किसी यक्ष आदि देव ने अपना निवास कर लिया है, उसे **अमरपरिगृहीत** कहते हैं। ऐसे चारों ही प्रकारों के घरों में से जिस किसी भी घर में साधु वर्षावास या मासकल्प आदि करके विहार कर अन्यत्र चले गये हैं, उसमें ठहरने के लिए नवीन आने वाले साधुओं को उनके जाने के समय से लगाकर आठ पहर तक पुनः ठहरने के लिए आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उतने समय तक पूर्व साधुओं के द्वारा ली गई अनुज्ञा ही मानी जाती है।

सूत्र ३१

से वत्थूसु-
वावडेसु वोगडेसु परपरिग्गहिएसु
भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चंपि उग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया
अहालन्दमवि उग्गहे ॥३१॥

जो गृह काम में आ रहा हो, कुटुम्ब द्वारा विभाजित हो, या अन्य वंश वालों से परिगृहीत हो तो भिक्षु भाव के लिए पीछे से आए हुए साधुओं को दूसरी वार आज्ञा लेनी चाहिए, क्योंकि अवग्रह 'यथालन्दकाल' का होता है।

विशेषार्थ—जो घर गृहस्थ के वापरने में आ रहा है, या विभक्त है या किसी व्यक्ति ने अपने स्वामित्व में ले लिया है, ऐसे घर में यदि पहले कोई साधु उसके स्वामी से आज्ञा लेकर ठहरे हों, तो भी आने वाले साधुओं को स्वामी की आज्ञा लेकर के ही ठहरना चाहिए, भले ही उन्हें अत्यल्पकाल ही वहाँ ठहरना हो, क्योंकि आज्ञा लेकर ठहरने पर ही अदत्तादानव्रत की रक्षा हो सकती है अन्यथा नहीं। यही भाव सूचित करने के लिए सूत्र में 'भिक्खु भावस्स अट्ठाए' पद दिया है।

अवग्रह पाँच प्रकार के वताये गये हैं—

१. शक्रेन्द्रावग्रह—शक्रेन्द्र से अनुज्ञा लेना।

२. राजावग्रह—राजा से अनुज्ञा लेना।

३. गाथापत्यवग्रह—घर स्वामी से अनुज्ञा लेना।

४. सागारिकावग्रह—उपाश्रय के अधिकारी से अनुज्ञा लेना।

५. साधर्मिकावग्रह—अधिकारी के अभाव में साधर्मीजनों से अनुज्ञा लेना।

इन पाँचों प्रकारों में से जहाँ जिससे अनुज्ञा लेना उचित या सम्भव हो, वहाँ उससे अनुज्ञा लेकर ही साधुओं को ठहरना चाहिए। यदि कोई जानकारी किये विना ठहरता है और वहाँ के पीठ-फलक आदि का उपयोग करता है तो वह यथोचित प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र ३२

से अणुकुड्डेसु वा, अणुभित्तीसु वा,
अणुचरियासु वा, अणुफरिहासु वा,
अणुपंथेसु वा, अणुमेरासु वा

स च्चेव उग्गहस्स पुव्वाणुन्नवणा चिट्ठइ
अहालंदमवि उग्गहे ॥३२॥

घर, भींत, चरिका, परिखा, पन्थ या वाड के समीप स्थान ग्रहण करना हो तो उनके स्वामी और राजा की पूर्वानुज्ञा है अर्थात् आगन्तुक श्रमण-निर्ग्रन्थ किसी की आज्ञा लिए विना ठहर सकते हैं, क्योंकि अवग्रह 'यथालन्द-काल' का होता है।

विशेषार्थ—सूत्रोक्त स्थान सर्वसाधारण के जाने-आने के लिए राजा की ओर से अनुमोदित होते हैं, अतः उन स्थानों पर ठहरने के लिए किसी की आज्ञा लेना साधु-साध्वियों के लिए आवश्यक नहीं है।

भाष्यकार ने उक्त स्थानों पर ठहरने के विषय में इतनी और विशेष बात कही है कि अनुचारिका अर्थात् नगर के प्राकार और नगर-निवासियों के भवनों के समीपवर्ती मार्ग में अवग्रह आठ हाथ, परिखा के समीप चार हाथ और दीवाल आदि समीपवर्ती स्थानों में एक हाथ का है। यदि वन प्रदेश में कहीं ठहरने का अवसर आवे तो वहाँ के स्वामी का स्मरण करके वहाँ ठहरे। यदि किसी स्थान का कोई स्वामी न हो तो शकेन्द्र का अवग्रह मन में चिन्तन करके ठहरे।

रोधकप्रकृतम्

सूत्र ३३

से गामस्स वा जाव रायहाणीए[1] वा वहिया
सेण्णं सन्निविट्ठं पेहाए
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
तद्दिवसं भिक्खायरियाए गंतूण पडिनियत्तए।
नो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेत्तए।
जो खलु निग्गंथो वा निग्गंथी वा
तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेइ,
उवाइणंतं वा साइज्जइ
से दुहओ वि अइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥३२॥

---

१ सन्निवेसस्स।

सेना प्रकरण

ग्राम यावत् राजधानी के वाहर शत्रु सेना का स्कन्धावार देखकर निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को भिक्षाचर्या से उसी दिन लौटकर आना कल्पता है। उन्हें रात वाहर रहना नहीं कल्पता है।

जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी (ग्राम-यावत् राजधानी के वाहर) रात रहते हैं या रात रहने का अनुमोदन करते हैं वे जिनाज्ञा और राजाज्ञा का अतिक्रमण करते हुए अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त को प्राप्त होते हैं।

क्षेत्रावग्रहप्रमाणप्रकृतम्

सूत्र ३४

से गामंसि वा जाव सन्निवेसंसि वा
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
सव्वओ समंता सक्कोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हित्ताणं चिट्ठित्तए।
त्ति बेमि ॥३४॥

अवग्रह क्षेत्र प्रमाण प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को ग्राम यावत्-सन्निवेश में एक कोश सहित एक योजन का अवग्रह ग्रहण करके रहना कल्पता है।[1]

विशेषार्थ—ग्रामादि के वाहर किसी भी दिशा में गोचरी आदि के लिए अढ़ाई कोश जाना और अढ़ाई कोश लौटना इस प्रकार पांच कोश जाना-आना कल्पता है, इससे अधिक क्षेत्र में जाना-आना नहीं कल्पता है।

तइओ उद्देसो समत्तो

तृतीय उद्देशक समाप्त

1. आचारदशा—सूत्र।

चउत्थो उद्देसओ

अनुद्घातिकप्रकृतम्

सूत्र १

तओ अणुग्घाइया पण्णत्ता,

तं जहा :—

१. हत्थकम्मं करेमाणे,

२. मेहुणं पडिसेवमाणे

३. राइभोयणं भुंजमाणे ॥१॥

अनुद्घातिक प्रकरण

अनुद्घातिक प्रायश्चित के पात्र ये तीन कहे गये हैं; यथा—

१. हस्तकर्म करने वाला,

२. मैथुन सेवन करने वाला,

३. रात्रि भोजन करने वाला ।

विशेषार्थ—जो प्रतिसेवना लघु प्रायश्चित्त से सरलता से शुद्ध की जा सके उसे 'उद्घातिक' प्रायश्चित्त कहते हैं और जो प्रतिसेवना गुरुप्रायश्चित्त से कठिनता से शुद्ध की जा सके उसे 'अनुद्घातिक' कहते हैं। हस्तमैथुनसेवी, स्त्री मैथुन-सेवी और रात्रिभोजी—ये तीनों ही प्रकार के गुरु-पाप-सेवी हैं, क्योंकि इनमें आदि के दो प्रतिसेवी तो ब्रह्मचर्य महाव्रत का भंग करने वाले हैं और अन्तिम प्रतिसेवी रात्रिभक्त-विरमण नामक छठे व्रत का भंग करने वाला है, अतः ये तीनों ही अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के पात्र हैं।

प्रायश्चित्त के दस भेद आगम में बताये गये हैं—१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. तदुभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य, और १०. पाराञ्चिक। इनका संक्षेप में स्वरूप इस प्रकार है—

१. आलोचना—स्वीकृत व्रतों का यथाविधि पालन करते हुए भी छद्मस्थ

होने के कारण जो मन से अतिक्रम आदि हुआ हो उसे गुरु के सम्मुख निवेदन करना।

२. **प्रतिक्रमण**—दिन में अपने कर्तव्य का पालन करते हुए जो भूलें होती हैं, उनका 'मिच्छा मे दुक्कडं होज्जा' उच्चारण कर अपने दोष से निवृत्त होना।

३. **तदुभय**—मूल-गुण या उत्तर-गुणों में लगे अतिचारों की निवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनों का करना आवश्यक होता है।

४. **विवेक**—गृहीत भक्त-पान आदि के सदोष ज्ञात होने पर उसका त्याग करना।

५. **व्युत्सर्ग**—गमनागमन करते समय, निद्रावस्था में सावद्य स्वप्न आने पर, नदी को नौका आदि से पार करने पर उचित श्वासोच्छ्वास-काल-प्रमाण कायाका उत्सर्ग करना अर्थात् खड़े होकर ध्यान करना।

६. **तप**—प्रमाद-विशेष से अनाचार के सेवन करने पर गुरु द्वारा दिये गये तप का आचरण करना। इसके दो भेद हैं—उद्घातिम अर्थात् लघु प्रायश्चित्त और अनुद्घातिम अर्थात् गुरु प्रायश्चित्त। इन दोनों के भी मासिक और चातुर्मासिक के भेद से दो-दो भेद होते हैं।

यदि राजसत्ता या प्रेतबाधा आदि से परवश होने पर व्रत-विराधना हो तो उसमें—लघुमासतप (उद्घातिम) प्रायश्चित्त में जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट २७ एकासन करना पड़ता है।

गुरुमास तप (अनुद्घातिम) प्रायश्चित्त में क्रमशः ४ नीवी (निर्विकृति भोजन) १५ नीवी और ३० नीवी करना आवश्यक है।

लघुचातुर्मासिक तप में क्रमशः ४ आयंबिल, ६० नीवी और १०८ उपवास करना आवश्यक है।

गुरुचातुर्मासिक तप में क्रमशः ४ उपवास, ४ बेले और १२० उपवास तथा ४ मास का दीक्षा छेद भी आवश्यक है।

यदि आतुरता से जानबूझकर व्रत-विराधना की जाती है तो उसमें—

नोट—पृष्ठ ६६, सूत्र १ का टिप्पण :

१ (क) निशीथ उ० १, सू० १।
(ख) निशीथ उ० २, सू० ४६।

२ स्थानांग ठा० ५, उ० २, सू० ४१४ को देखें।

लघुमास में जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट २७ आयंबिल करना आवश्यक है।

गुरुमास में जघन्य ४, मध्यम १५ और उत्कृष्ट ३० आयंबिल करना आवश्यक है,

लघु चातुर्मासिक में जघन्य ४ उपवास, मध्यम ४ वेले और उत्कृष्ट १०८ उपवास करना आवश्यक है।

गुरु चातुर्मासिक में जघन्य ४ वेले ४ दिन का दीक्षा-छेद, मध्यम में ४ तेले तथा ६ दिन का दीक्षा-छेद और उत्कृष्ट में १२० उपवास, तथा ४ मास का दीक्षा-छेद आवश्यक है।

यदि व्रत की विराधना तीव्र मोहनीय कर्म के उदय से हुई है तो—

लघुमास में जघन्य ४ उपवास, मध्यम में १५ उपवास और उत्कृष्ट में १७ उपवास करना आवश्यक है।

गुरुमास में जघन्य ४ उपवास, मध्यम में १५ उपवास और उत्कृष्ट में ३० उपवास करना चाहिए।

लघु चातुर्मासिक में जघन्य ४ वेले, पारणे में आयंबिल, मध्यम में ४ तेले, पारने में आयंबिल और उत्कृष्ट में १०८ उपवास और पारने में आयंबिल करना आवश्यक है।

गुरुचातुर्मासिक में जघन्य ४ तेले, पारणे में आयंबिल, तथा ६० दिन का दीक्षा-छेद और उत्कृष्ट में १२० उपवास में आयंबिल तथा मूल दीक्षा-छेद आवश्यक है।

भ० महावीर के शासन में उत्कृष्ट तप प्रायश्चित्त छह मास का होता है, लघुषण्मास में १६५ उपवास और गुरुषण्मास में १८० उपवासों का विधान है। प्रायश्चित्त देने वाले गुरु शिष्य की शक्ति और व्रत-भंग की स्थिति को देखकर यथायोग्य प्रायश्चित्त देते हैं।

(७) छेद—अनेक व्रतों की विराधना करने वाले और विना कारण अपवाद मार्ग का सेवन करने वाले साधु की यथायोग्य दीक्षा काल का छेदन करना छेद प्रायश्चित्त है।

(८) मूल—जानबूझ कर द्वेष भाव से किसी पंचेन्द्रिय प्राणी का घात कर देने पर, इसी प्रकार प्रगाढ़ मृषावाद आदि पापों का सेवन करने पर पूर्व की दीक्षा का समूल छेदन करना मूल प्रायश्चित्त है। ऐसे साधु को पुनः नवीन दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक होता है।

(९) **अनवस्थाप्य**—ऐसे घोर पाप करने पर कि जिसकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्त से भी सम्भव न हो, उसे गृहस्थ-वेष धारण कराके पुनः नवीन दीक्षा देना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है।

(१०) **पाराञ्चिक**—अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से भी जिसकी शुद्धि सम्भव न हो, ऐसे घोरातिघोर पाप के करने वाले को कम-से-कम एक वर्ष तक और उत्कृष्टतः बारह वर्ष तक गृहस्थ वेष को धारण कराके भी साधु के सब व्रत नियमों का पालन करने के पश्चात् जो नवीन दीक्षा दी जाती है, उसे पाराञ्चिक प्रायश्चित्त कहते हैं।

पाराञ्चिकप्रकृतम्

सूत्र २

तओ पारंचिया पण्णत्ता,

तं जहा :—

१. दुट्ठे पारंचिए

२. पमत्ते पारंचिए,

३. अन्नमन्नं करेमाणे पारंचिए ॥२॥

पाराञ्चिक प्रकरण

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पात्र ये तीन कहे गये हैं, यथा—

१. दुष्ट—(तीव्र विषय-कषाय से दुष्ट) पाराञ्चिक,

२. प्रमत्त पाराञ्चिक,

३. परस्पर मैथुनसेवी पाराञ्चिक।

विशेषार्थ—पाराञ्चिक शब्द का निरुक्त अर्थ है—जिस प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्ध किया हुआ साधु संसार-समुद्र के पार को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर सके।

अथवा प्रायश्चित्त के दश भेदों में जो पार अर्थात् अन्तिम प्रायश्चित्त है और सबसे उत्कृष्ट है—उसे पाराञ्चिक प्रायश्चित्त कहते हैं। इस प्रायश्चित्त के योग्य साधु या साध्वी को उपचार से पाराञ्चिक कहा जाता है। पाराञ्चिक प्रायश्चित्त का स्वरूप इसके पूर्ववर्ती सूत्र के विशेषार्थ में दिया जा चुका है। इस सूत्र में यह बतलाया गया है कि तीन प्रकार के साधु या साध्वी इस पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं। उनमें प्रथम दुष्ट पाराञ्चिक है। इसके दो भेद कहे गये हैं—कषायदुष्ट और विषयदुष्ट।

जो क्रोधादि कषायों की प्रबलतावश किसी साधु आदि का घात कर देवे, वह कषायदुष्ट है और जो इन्द्रियों की विषयासक्ति से साध्वी आदि स्त्रियों में आसक्त हो जाय और उनके साथ विषय-सेवन करे उसे विषयदुष्ट कहते हैं। ये दोनों ही पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पात्र हैं।

प्रमत्त पाराञ्चिक पाँच प्रकार के होते हैं—मद्यप्रमत्त, विषयप्रमत्त, कषाय-प्रमत्त, विकथाप्रमत्त और निद्राप्रमत्त।

मदिरा आदि नशीली वस्तुओं के सेवन करने वाले मद्य-प्रमत्त कहलाते हैं।

इन्द्रियों के विषय-लोलुपी विषय-प्रमत्त कहलाते हैं।

कषायों की प्रबलता वाले कषाय-प्रमत्त कहलाते हैं।

स्त्रीकथा, राजकथा आदि विकथाओं के करने वाले विकथा-प्रमत्त कहे जाते हैं।

और स्त्यानर्द्धि-निद्रा वाले निद्रा-प्रमत्त कहे जाते हैं।

जिस व्यक्ति के स्त्यानर्द्धिनिद्रा का उदय होता है, वह घोर निद्रा में ही उठकर नहीं करने के योग्य भयंकर घोर कार्यों को करके पुनः सो जाता है और जागने पर उसे अपने द्वारा किये गये दुष्कर कार्यों का कुछ भी भान नहीं रहता है, ऐसे व्यक्ति को निद्रा-प्रमत्त कहते हैं।

जो साधु या साध्वी उक्त पाँचों प्रमत्तों में किसी भी एक प्रकार का प्रमत्त है, वह प्रमत्त पाराञ्चिक है और वह पाराञ्चिक प्रायश्चित्त का पात्र है।

जो साधु किसी दूसरे साधु के साथ, या साध्वी किसी दूसरी साध्वी के साथ अनंगक्रीडा रूप से मैथुन सेवन करे वे दोनों ही पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के पात्र होते हैं। कहने का सार यह है कि दुष्ट, प्रमत्त और परस्पर मैथुनसेवी साधु या साध्वी की शुद्धि पाराञ्चिक-प्रायश्चित्त के बिना नहीं हो सकती है।

अनवस्थाप्यप्रकृतम्

सूत्र ३

तओ अणवट्ठप्पा पण्णत्ता,

तं जहा—

१. साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे,

२. अन्नधम्मियाणं तेण्णं करेमाणे,

३. हत्थादालं[1] दलमाणे ॥३॥

---

१ हत्थालंबं, हत्थतालं, अत्थादाणं।

अनवस्थाप्य प्रकरण

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्तके पात्र ये तीन कहे गये हैं, यथा—

१. साधर्मिकों की चोरी करने वाला,

२. अन्यधार्मिकों की चोरी करने वाला,

३. हस्ताताल देने वाला।[1]

विशेषार्थ—अनवस्थाप्य प्रायश्चित का स्वरूप प्रथम सूत्र के विशेषार्थ में वताया गया है। इस सूत्र में वताया गया है कि जो साधु या साध्वी अपने समान धर्म वाले साधर्मीजनों के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि की चोरी करता है, वह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का भागी है।

इसी प्रकार जो अन्य धार्मिकजनों के अर्थात् वौद्ध, सांख्य आदि मतों के मानने वाले साधु आदि के वस्त्र, पात्र पुस्तक आदि की चोरी करता है, वह भी अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का पात्र है।

तथा जो हस्ताताल करता है अर्थात् अपने हाथ से दूसरे को ताड़नादि करता है, मुट्ठी, लकड़ी आदि से मारता है, वह भी अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का पात्र है।

भाष्यकार के सम्मुख 'हत्यालंवं' और 'अत्यादाणं' ऐसे दो पाठ भी रहे हैं। उनमें प्रथम पाठ-भेद का उन्होंने यह अर्थ किया है कि यदि किसी स्थान पर ईति-भीति, मारी आदि के प्रकोप से वहाँ के निवासी लोग अति पीड़ित होकर किसी विशिष्ट ज्ञानी साधु के समीप आकर प्रार्थना करें—हे स्वामिन्, किसी मंत्रप्रयोग आदि के द्वारा आप हमारी इस ईति-भीति आदि से रक्षा कीजिए। वह उनकी प्रार्थना से द्रवित होकर महामारी की एक प्रतिमा वनाकर उस उपद्रव के प्रशामक मंत्रों को जपता हुआ उस प्रतिमा को मध्यभाग से वेध देता है। इससे वह महामारी नष्ट हो जाती है और लोगों का उपद्रव शान्त हो जाता है।

इस प्रकार से मन्त्र-प्रयोग करने वाला साधु भी अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का भागी होता है। परन्तु इसके लिए कहा गया है कि उक्त घटना के कुछ काल वाद ही उसे अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त देना चाहिए, तत्काल नहीं, और वह भी गच्छ में रहते हुए ही देना चाहिए।

---

१ स्थानांग अ० ३, उ० ४, सू० २०१।

'हत्थादालं' के स्थान पर दूसरा पाठ भेद 'अत्थादाणं' भी भाष्यकार के सम्मुख था, उसका यह अर्थ किया गया है कि अपने किसी गृहवास के सगे-सम्बन्धी की दरिद्रता को दूर करने के लिए जो अष्टांगनिमित्तों का प्रयोग करता है, वह भी अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का पात्र है।

प्रव्राजनादिप्रकृतम्

सूत्र ४

तओ नो कप्पंति पव्वावेत्तए,

तं जहा—

१. पण्डए, २. वाइए, ३. कीवे ॥४॥[1]

प्रव्राजनादि प्रकरण

इन तीनों को प्रव्रजित करना नहीं कल्पता है, यथा—

१. पण्डक—महिला सदृश स्वभाववाला नपुंसक,

२. वातिक—कामवासना का दमन न कर सकने वाला,

३. क्लीव—असमर्थ।

सूत्र ५ : एवं मुण्डावेत्तए ॥५॥
इसी प्रकार मुण्डित करना।

सूत्र ६ : सिक्खावेत्तए ॥६॥
इसी प्रकार शिक्षित करना।

सूत्र ७ : उवट्ठावेत्तए ॥७॥
इसी प्रकार उपस्थापित करना।

सूत्र ८ : संभुंजित्तए ॥८॥
इसी प्रकार एक मण्डली में साथ बिठाकर आहार करना।

सूत्र ९ : संवासित्तए ॥९॥
इसी प्रकार सदा साथ रखना नहीं कल्पता है।[1]

---

१ स्थानांग अ० ३, उ० ४, सू० २०२।

विशेषार्थ—जो जन्म से नपुंसक होता है, उसे पण्डक कहते हैं।

जो वातरोगी है अर्थात् वेद के उदय को सहन करने में असमर्थ है, उसे वातिक कहते हैं।

असमर्थ या पुरुपत्व-हीन कायर पुरुप को क्लीव कहते हैं।

ये तीनों ही प्रकार के मनुष्य दीक्षा देने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों को दीक्षित करने से प्रवचन का उपहास और निर्ग्रन्थ धर्म की निन्दा आदि अनेक दोप होते हैं।

उन तीनों प्रकार के नपुंसकों के भाष्यकार ने अनेक भेद-प्रभेद वतलाकर उनका विस्तार से वर्णन किया है, विशेप जिज्ञासुओं को वृहत्कल्पसूत्र भाष्य से जानना चाहिए।

यदि पूरी जानकारी के विना उक्त प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा दे दी जाय और तत्पश्चात् उनका नपुंसकपना ज्ञात हो तो उसे मुण्डित नहीं करे अर्थात् उनके केशों का लुंचन नहीं करे।

यदि केशलुंचन के पश्चात् नपुंसकपना ज्ञात हो तो उन्हें महाव्रतों में उपस्थापित न करे अर्थात् वड़ी दीक्षा न देवे।

यदि वड़ी दीक्षा के पश्चात् उनका नपुंसकपना ज्ञात हो तो उनके साथ एक मण्डली में वैठकर खान-पान न करे।

यदि इसके पश्चात् उनका नपुंसकपना ज्ञात हो तो उन्हें अपने सोने वैठने के स्थान पर एक साथ न सुलावे-वैठावे। अभिप्राय यह है कि उक्त तीनों प्रकार के नपुंसक किसी प्रकार से साधु वनने के योग्य नहीं है। क्योंकि उन्हें साधु वनाने पर जन-साधारण संघ की निन्दा करेंगे कि यह श्रमण संघ तो नपुंसकों का समूह है। फिर इनके शिथिलाचरण से अपयश, अकीर्त्ति के साथ सदाचारी साधुओं के विपय में भी शंका हो सकती है। अतः उक्त तीनों ही प्रकार के नपुंसक दीक्षा आदि के पात्र नहीं हैं।

वाचना-प्रकृतम्

सूत्र १०

तओ नो कप्पंति वाएत्तए,

तं जहा—

१. अविणीए,

२. विगइ-पडिवद्धे,

३. अविओसविय पाहुडे ॥१०॥

वाचना प्रकरण

इन तीनों को वाचना देना नहीं कल्पता है, यथा—

१. अविनीत—सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनय भाव न करने वाले को,

२. विकृति प्रतिबद्ध—घृतादि रस (स्नेह) विकृतियों में आसक्त रहने वाले को,

३. अव्यवशमितप्राभृत—अनुपशान्त क्रोध वाले को।

सूत्र ११

तओ कप्पंति वाएत्तए,

तं जहा—

१. विणीए,

२. नो विगइ-पडिबद्धे,

३. विओसवियपाहुडे ॥११॥[1]

इन तीनों को वाचना देना कल्पता है, यथा—

१. विनीत—सूत्रार्थदाता के प्रति वन्दनादि विनय भाव करने वाले को,

२. विकृति अप्रतिबद्ध—घृतादि रस विकृतियों में आसक्त न रहने वाले को,

३. व्यवशमित प्राभृत—उपशान्त क्रोध वाले को।

विशेषार्थ—जो विनय-रहित है, आचार्य या दीक्षा ज्येष्ठ साधु आदि के आने-जाने पर अभ्युत्थान, सत्कार, सम्मान आदि यथोचित विनय को नहीं करता है; वह अविनीत कहलाता है।

जो दूध, दही आदि रसों में गृद्ध है, उन रसों के नहीं मिलने पर सूत्रार्थ आदि के ग्रहण करने में मन्द उद्यमी रहता है, उसे विकृति-प्रतिबद्ध कहते हैं।

किसी साधु के द्वारा स्वल्प अपराध हो जाने पर भी जो प्रचण्ड क्रोध करता है और क्षमा-याचना कर लेने के पश्चात् भी बार-बार उस पर क्रोध प्रकट करता है, उसे अव्यवशमितप्राभृत कहते हैं। तीनों ही प्रकार के साधु सूत्र-वाचना, अर्थ-वाचना और उभय-वाचना के अयोग्य हैं, क्योंकि विनय से ही विद्या की प्राप्ति होती है, अविनयी शिष्य को विद्या पढ़ाना व्यर्थ या निष्फल तो जाता ही है, प्रत्युत कभी-कभी दुष्फल भी देता है।

---

१ स्थानांग अ० ३, उ० ४, सू० २०३।

जो दूध-दही आदि विकृतियों में आसक्त हैं, उसके हृदय में दी गई वाचना स्थिर नहीं रह सकती है, अतः उसे भी वाचना देना व्यर्थ है।

जिसके स्वभाव में उग्रता है, जरा-सा भी अपराध हो जाने पर जो अपराधी पर भारी रोप प्रकट करता है, क्षमा माँग लेने पर भी वार-वार दोहराता है, ऐसे व्यक्ति को भी वाचना देना व्यर्थ होता है। ऐसे व्यक्ति से लोग इस जन्म में भी स्नेह करना छोड़ देते हैं और परभव के लिए भी वह तीव्र वैरानुवन्ध करता है। इसलिए उक्त तीनों ही प्रकार के शिष्य सूत्र, अर्थ या दोनों की वाचना के लिए अयोग्य कहे गये हैं। किन्तु जो विनय-सम्पन्न हैं, दूध, दही आदि विकृतियों (विगयों) के सेवन में जिनकी आसक्ति नहीं है और जो क्षमाशील हैं, ऐसे शिष्यों को ही सूत्र की, उसके अर्थ की तथा दोनों की वाचना देना चाहिए, क्योंकि उनको दी गई वाचना श्रुतका विस्तार करती है, ग्रहण करने वाले का इहलोक और परलोक सुधारती है और जैनशासन की प्रभावना करती है।

संज्ञाप्यप्रकृतम्

सूत्र १२

तओ दुस्सन्नप्पा पण्णत्ता,

तं जहा—

१. दुट्ठे, २. मूढे, ३. वुग्गाहिए ॥१२॥[1]

संज्ञाप्य प्रकरण

ये तीन दुःसंज्ञाप्य (दुर्बोध्य) कहे गये है, यथा—

(१) दुष्ट—तत्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष रखने वाला,

(२) मूढ़—गुण और दोषों से अनभिज्ञ,

(३) व्युद्ग्राहित—अंधश्रद्धा वाला दुराग्रही।

सूत्र १३

तओ सुसन्नप्पा पण्णत्ता,

तं जहा—

१. अदुट्ठे, २. अमूढे, ३. अवुग्गाहिए ॥१३॥

---

१ स्थानांग अ० ३, उ० ४, सू० २०३।

ये तीन सुसंज्ञाप्य (सुबोध्य) कहे गए हैं, यथा—

(१) अदुष्ट—तत्वोपदेष्टा के प्रति द्वेष न रखने वाला,

(२) अमूढ़—गुण और दोषों का ज्ञाता,

(३) अव्युद्ग्राहित—सम्यक् श्रद्धा वाला।

विशेषार्थ—जो शास्त्र की प्रज्ञापना या प्ररूपणा करने वाले गुरु आदि से द्वेष रखे, अथवा प्रतिपादन किये जाने वाले तत्व के प्रति द्वेष रखे, उसे दुष्ट कहते हैं।

गुण और अवगुण के विवेक से रहित व्यक्ति मूढ़ कहलाता है।

विपरीत श्रद्धा वाले दृढ़ कदाग्रही पुरुष को व्युद्ग्राहित कहते हैं।

ये तीनों ही प्रकार के व्यक्ति (साधु) दुःसंज्ञाप्य हैं अर्थात् इनको समझाना बहुत कठिन है, समझाने पर भी ये नहीं समझते हैं। अतः इन तीनों ही प्रकार के साधुओं को श्रुत के अर्थ की वाचना नहीं देनी चाहिए। किन्तु जो अदुष्ट है अर्थात् द्वेषभाव से रहित हैं, गुण-अवगुण या हित-अहित के विवेक से युक्त हैं और अव्युद्-ग्राहित अर्थात् विपरीत श्रद्धा वाला या कदाग्रही नहीं है ऐसे व्यक्तियों को श्रुत के अर्थ की वाचना देनी चाहिए, क्योंकि ये प्रतिपादित तत्व को सरलता से या सुगमता से ग्रहण करने के योग्य हैं।

गलानप्रकृतम्

सूत्र १४

निग्गंथिं च णं गिलायमाणिं
पिया वा, भाया वा, पुत्तो वा पलिस्सएज्जा
तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१४॥

गलान-प्रकरण

ग्लान निर्ग्रन्थी के पिता भ्राता या पुत्र गिरती हुई निर्ग्रन्थी को हाथ का सहारा दें, गिरी हुई को उठावें, स्वतः उठने बैठने में असमर्थ को उठावें बिठावें—

उस समय वह निर्ग्रन्थी (पूर्वानुभूत मैथुन सेवन की स्मृति से) पुरुष स्पर्श का अनुमोदन करे तो अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

सूत्र १५

निग्गंथं च णं गिलायमाणं
माया वा भगिणी वा धूया वा पलिस्सएज्जा,
तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ते,
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१५॥

ग्लान निर्ग्रन्थ की माता, वहिन या बेटी गिरते हुए निर्ग्रन्थ को हाथ का सहारा दें,

गिरे हुए को उठावें,

स्वतः बैठने में असमर्थ को उठावें बिठावें—

उस समय वह निर्ग्रन्थ (पूर्वानुभूत मैथुन सेवन की स्मृति से) स्त्री स्पर्श का अनुमोदन करे तो अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—साध्वी के लिए पुरुष के शरीर का स्पर्श और साधु के लिए स्त्री के शरीर का स्पर्श ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सर्वथा वर्जित है।

बीमारी आदि के समय भी साध्वी की साध्वी और साधु की साधु ही परिचर्या आदि करे, यही जिन-आज्ञा है। किन्तु कदाचित् यदि ऐसा अवसर आ जाय कि कोई साध्वी शरीर बल के क्षीण होने से कहीं पर जाते-आते हुए गिर जाय और उसे देखकर उस साध्वी का पिता, भाई या पुत्रादि उसे उठावे तब उसके शरीर के स्पर्श से यदि साध्वी के काम-वासना जागृत हो जाय तो उसके लिए चातुर्मासिक गुरु परिहार स्थान का प्रायश्चित्त कहा गया है।

इसी प्रकार बीमारी आदि से क्षीण बल कोई साधु कहीं गिर जाय और और उसकी माता, वहिन या पुत्री उसे उठाए। तब उसके स्पर्श से यदि साधु के काम-वासना जग जाय तो वह साधु चातुर्मासिक गुरु-परिहार-स्थान प्रायश्चित्त का पात्र कहा गया है।

कालक्षेत्रातिक्रान्त प्रकृतम्

सूत्र १६

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा,
पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं[1] पोरिसि उवाइणावेत्तए।

---

१ चउत्थि।

से य आहच्च उवाइणाविए सिया
तं नो अप्पणा भुंजेज्जा,
नो अन्नेसिं अणुप्पदेज्जा,
एगन्ते[1] वहुफासुए थंडिले[2] पडिलेहित्ता पमज्जित्ता
परिट्ठयव्वे सिया।
तं अप्पणा भुंजमाणे,
अन्नेसिं वा दलमाणे[3],
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥१६॥

काल-क्षेत्रातिक्रान्त प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को प्रथम पौरुषी में ग्रहण किए हुए अशन, पान खादिम और स्वादिम को अन्तिम पौरुषी तक अपने पास रखना नहीं कल्पता है।

कदाचित् वह कालातिक्रान्त आहार रह जाय तो उस आहार को स्वयं न खावे और न अन्य निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को दे, किन्तु एकान्त में सर्वथा अचित्त भूमिका प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन कर उस (कालातिक्रान्त) आहार को परठ देना (डाल देना) चाहिए।

यदि उस (कालातिक्रान्त) आहार को स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को दे तो वह उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—पौरुषी नाम प्रहर का है। दिन के प्रथम प्रहर में लाया गया आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना योग्य नहीं है। इसके पूर्व ही उसे साधु और साध्वियों को काम में ले लेना चाहिए।

यदि कदाचित् अधिक मात्रा में आ जाने से वह खाने-पीने से बच जाय तो कालातिक्रम हो जाने पर साधु-साध्वी उसे न स्वयं सेवन करें, न दूसरों को सेवन करने के लिए देवें। किन्तु उसे किसी एकान्त, प्रासुक भूमि पर प्रतिलेखन और प्रमार्जन करके यथाविधि परठ देना चाहिए।

यदि वे ऐसा नहीं करते हैं किन्तु उसे स्वयं सेवन करते हैं, या दूसरे साधु-

---

१ एगंतमंते। २ पएसे। ३ अणुप्पदेमाणे।

साध्वियों को देते हैं तो वे लघु-चातुर्मासिक परिहारस्थान प्रायश्चित्त के भागी बनते हैं।

भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में इतना और भी स्पष्ट किया है कि जिनकल्पी साधु को तो जिस प्रहर में वह गौचरी लावे उसी प्रहर में उसे खा लेना चाहिए। अन्यथा वे संग्रहादि दोष के भागी होते हैं। किन्तु जो गच्छ-वासी (स्थविरकल्पी) साधु हैं, वे प्रथम प्रहर में लायी गई गौचरी को तीसरे प्रहर तक सेवन कर सकते हैं। उसके पश्चात् सेवन करने पर वे सूत्रोक्त प्राय-श्चित्त के भागी होते हैं।

सूत्र १७

नो कप्पइ निग्गंयाण वा निग्गंथीण वा
असणं वा, पाणं वा, खाइमं वा, साइमं वा,
परं अद्धजोयणमेराए उवाइणावेत्तए।
से य आहच्च उवाइणाविए सिया,
तं नो अप्पणा भुंजेज्जा,
नो अन्नेसिं अणुप्पदेज्जा,
एगन्ते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता
परिट्ठवेयव्वे सिया,
तं अप्पणा भुंजमाणे,
अन्नेसिं वा दलमाणे,
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥१७॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अशन, पान, खादिम और स्वादिम आहार अर्धयोजन की मर्यादा से आगे अपने पास रखना नहीं कल्पता है।

कदाचित् वह क्षेत्रातिक्रान्त आहार रह जाय तो उस आहार को स्वयं न खावे और न अन्य निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को दे, किन्तु एकान्त में सर्वथा अचित्त भूमि का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन कर उस (क्षेत्रातिक्रान्त) आहार को परठ देना (डाल देना) चाहिए।

यदि उस आहार को स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को दे तो उद्घातिक चातुर्मासिक परिहारस्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

अनेषणीयप्रकृतम्

सूत्र १८

निग्गंथेण य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए
अणुप्पविट्ठेणं
अन्नयरे अचित्ते अणेसणिज्जे पाणभोयणे
पडिगाहिए सिया
अत्थि य इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए,
कप्पइ से तस्स दाउं वा अणुप्पदाउं वा।
नत्थि य इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए,
तं नो अप्पणा भुंजेज्जा,
नो अन्नेसिं दावए[1]
एगन्ते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता
परिट्ठवेयव्वे सिया ॥१८॥

अनेषणीय-प्रकरण

आहार के लिए गृहपतियों के गृहसमुदाय में प्रविष्ट निर्ग्रन्थ ने उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों में से किसी एक दोष से अनेषणीय पान-भोजन ग्रहण कर लिया हो तो—

वह आहार उस समय यदि कोई अनुपस्थापित शिष्य हो तो उसे देना या एषणीय आहार देने के बाद में देना कल्पता है।

यदि कोई अनुपस्थापित शिष्य न हो तो उस अनेषणीय आहार को न स्वयं खावे और न अन्य निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को दे, किन्तु एकान्त में अचित्त प्रदेश का प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर (उसको) परठ देना चाहिए।

विशेषार्थ—इत्वरिक दीक्षा देने के पश्चात् जब तक यावज्जीवन की दीक्षा नहीं दी जाती है, तब तक उस नवदीक्षित साधु को अनुपस्थापित शैक्षतर कहा जाता है।

छोटी दीक्षा के पश्चात् बड़ी दीक्षा देकर महाव्रतों में उपस्थापन का जघन्य काल सात दिन है और उत्कृष्ट काल छह मास है। ऐसे अनुपस्थापित

---

१ अणणप्पदेज्जा।

नवदीक्षित साधु को अनावधानी से आया हुआ अनेषणीय अचित्त आहार सेवन करने के लिए दिया जा सकता है।

अनेषणीय का अर्थ है कि जो एषणासम्बन्धी दोष से युक्त हो। जब तक महाव्रत ग्रहण न करा दिये जावें तब तक उसे एषणा सम्बन्धी दोषों का त्याग नहीं माना गया है। यदि साधु-मण्डली में ऐसा कोई नवदीक्षित अनुपस्थापित शिष्य न हो तो उसे न स्वयं खावे और न दूसरों को खाने के लिए देवे। किन्तु प्रासुक (अचित्त) स्थान पर सूत्रोक्त विधि से परठ देना चाहिए।

सूत्र में जो 'दाउं' पद है, उससे एक बार देने का और 'अणुप्पदाउं' पद से अनेकबार थोड़ा-थोड़ा करके देने का अभिप्राय है।

कल्पस्थिताकल्पस्थितप्रकृतम्

सूत्र १९

जे कडे कप्पट्ठियाणं, कप्पइ से अकप्पट्ठियाणं,
नो[1] से कप्पइ कप्पट्ठियाणं।
जे कडे अकप्पट्ठियाणं,
नो से कप्पइ कप्पट्ठियाणं,
कप्पइ[2] से अकप्पट्ठियाणं।
कप्पे ठिया कप्पट्ठिया।
अकप्पे ठिया अकप्पट्ठिया ॥१९॥

कल्पस्थिताकल्पस्थित-प्रकरण

जो अशन यावत् स्वादिम कल्पस्थितों के लिए बनाया गया है वह अकल्पस्थितों को लेना कल्पता है।

जो अशन यावत् स्वादिम अकल्पस्थितों के लिए बनाया गया है वह कल्पस्थितों के लिए नहीं कल्पता—किन्तु अकल्पस्थितों के लिए कल्पता है।

जो कल्प में स्थित हैं वे कल्पस्थित हैं।

जो अकल्प में स्थित हैं वे अकल्पस्थित हैं।

विशेषार्थ—जो साधु [illegible] में स्थित होते

1 जे कडे [illegible]।
2 जे कडे [illegible]।

हैं और पंच याम रूप धर्म का पालन करते हैं, ऐसे ऋषभ और वर्धमान स्वामी के तीर्थवाले साधुओं को कल्पस्थित कहते हैं।

जो आचेलक्यादि दश प्रकार के कल्प में स्थित नहीं है, किन्तु यथासम्भव कल्प में स्थित हैं, और चातुर्याम रूप धर्म का पालन करते हैं, ऐसे मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ वाले साधुओं को अकल्पस्थित कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में यह कहा गया है कि जो अशन-पानादि आहार गृहस्थों ने कल्पस्थित साधुओं के लिए बनाया है, उसे वे नहीं ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु अकल्पस्थित साधु ग्रहण कर सकते हैं। इसी प्रकार जो आहार अकल्पस्थित साधुओं के लिए बनाया गया है, उसे अकल्पस्थित साधु तो ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु कल्पस्थित साधु नहीं ग्रहण कर सकते हैं।

दस प्रकार का कल्प इस प्रकार हैं—(१) आचेलक्य, (२) कृतिकर्म, (३) महाव्रत, (४) पर्यायज्येष्ठत्व, (५) प्रतिक्रमण, (६) मासनिवास, (७) पर्युषणा, (८) औद्देशिक, (९) शय्यातर पिण्ड और (१०) राजपिण्ड।

इन दश प्रकार के कल्पों में से प्रारम्भ के सात प्रकार के कल्पों में स्थित साधुओं को ग्राह्य कल्पस्थित जानना चाहिए।

औद्देशिक आदि अन्तिम तीन कल्पों में स्थित साधुओं को अग्राह्य कल्पस्थित या अकल्पस्थित जानना चाहिए।

गणान्तरोपसम्पत्प्रकृतम्

सूत्र २०

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए,
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा, उवज्झायं वा, पवत्तयं वा, थेरं वा,
गणिं वा, गणहरं वा, गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
ते य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

ते य से नो वियरेज्जा,
एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं
विहरित्तए ॥२०॥

गणान्तरोपसम्पत् प्रकरण

यदि कोई भिक्षु स्वगण से निकलकर अन्यगण को स्वीकार करना चाहे तो—

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) प्रवर्तक, (४) स्थविर, (५) गणी, (६) गणधर या (७) गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है—किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—इस सूत्र में यह व्यवस्था दी गई है कि यदि कोई साधु अपने संघ को ज्ञानादि की प्राप्ति, या संयम-विशेप की साधना आदि किसी कारण से छोड़कर अन्य संघ में जाना चाहे तो उसे चाहिए कि वह जिनकी निश्रा में रहता है, उन आचार्य आदि की स्वीकृति लेकर ही जावे, विना स्वीकृति लिए नहीं जावे।

सूत्रोक्त आचार्य आदि पदों का स्वरूप इस प्रकार है—जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार—इन पंच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और अपने अधीनस्थ शिष्यों से पालन कराते हैं, जो साधु-संघ के मेढीभूत आधार है, आचार, श्रुत, शरीर, वचन, वाचना, मति, उपयोग और संग्रह इन आठ प्रकार की सम्पदा से सम्पन्न है, उन्हें आचार्य कहते हैं।

जो आचारांग आदि द्वादशांगी श्रुत के पाठी है और नव दीक्षित शिष्यों को पढ़ाते है, तथा चिरदीक्षित भी साधु जिनके समीप आकर श्रुत-अध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

जो आचार्य द्वारा वतलाये गये तप, संयम, योग, वैयावृत्य, सेवा, सुश्रुषा, पठन-पाठनादि कार्यों में संघ के साधुओं को उनकी सामर्थ्य का विचार कर यथायोग्यरूप से प्रवर्तन कराते हैं, उन्हें प्रवर्तक कहते हैं।

जो संयम की साधना से विचलित होने वाले साधुओं को इस लोक और परलोक के अपाय (कष्ट-मय) दिखा करके उन्हें संयम की साधना में स्थिर करते हैं, ऐसे ज्ञान, वय और तपोवृद्ध साधुओं को स्थविर कहते हैं।

अनेक साधुओं के समुदाय को गण कहते हैं। उनके स्वामी होकर जो कितने ही साधु-समूह के साथ विचरते हैं, उन्हें गणी कहते हैं।

जो गण के योग-क्षेम के विधायक होते हैं उन्हें गणधर कहते हैं।

जो साधुओं के समुदायरूप गण का अवच्छेद (विभाग) करें अर्थात् एक प्रकृति के, या एक देश के या सरीखे तपश्चरण एवं पठन-पाठनादि करने वाले साधुओं को भिन्न-भिन्न समुदाय में विभाजित करें उन्हें गणावच्छेदक कहते हैं।

जो साधु अपने गण से बाहर अन्य गण में जाकर विचरना चाहें, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह आचार्य की स्वीकृति लेवे। आचार्य के समीप न होने पर उपाध्याय की, उनके अभाव में प्रवर्तक की, उनके अभाव में स्थविरकी, उनके अभाव में गणी कों, उनके अभाव में गणधर की और उनके अभाव में गणावच्छेदक की स्वीकृति लेकर के ही विचरना चाहिए। अन्यथा वह प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि आचार्यादि की स्वीकृति मिलने पर साधु तो अकेला भी विहार कर अन्य गण में जा सकता है। किन्तु साध्वी अकेली नहीं जा सकती है। उसे स्वीकृति मिलने पर भी कम से कम एक अन्य साध्वी के साथ ही अन्य गण में जाना चाहिए। पृच्छा आदि की शेष-विधि साधु के समान ही जाननी चाहिए।

सूत्र २१

गणावच्छेयए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए,
नो[1] से कप्पइ गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं
अनिक्खिवित्ता
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए
कप्पइ से गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं
निक्खिवित्ता
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

---

१ एतच्चिह्नान्तर्गतपाठः सभाष्यमुद्रित पुस्तके नास्ति

कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
ते य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
ते य से नो वियरेज्जा[1]
एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२१॥

यदि गणावच्छेदक स्वगण से निकलकर अन्य गण को स्वीकार करना चाहे तो—

उसे पहले अपने पद का त्यागकर के अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे बिना अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है, किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—जो विधि सामान्य साधु के लिए अन्य गण में जाने की बतलायी गई है, वही विधि गणावच्छेदक के लिए है। विशेषता यह है कि गणावच्छेदक को अपना पद दूसरे योग्य साधु को सौंपकर जाना चाहिए।

सूत्र २२

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए
नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायस्स आयरिय-उवज्झायत्तं
अनिक्खिवित्ता
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
कप्पइ से आयरिय-उवज्झायस्स आयरिय-उवज्झायत्तं
निक्खिवित्ता
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

---

१ वियरेति—पाठान्तरम्।
२ एतच्चिह्नान्तर्गतपाठः सभाष्य मुद्रित पुस्तके नास्ति।

नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता,
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए
ते य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
ते य से नो वियरेज्जा,
एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२२॥

आचार्य या उपाध्याय यदि स्व-गण से निकलकर अन्य गण को स्वीकार करना चाहे तो—

दोनों को अपने पदों का त्यागकर के अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता है—किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्यगण को स्वीकार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण को स्वीकार करना नहीं कल्पता हैं।

विशेषार्थ—आचार्य या उपाध्याय को भी यदि ज्ञान-चारित्र आदि की विशेष आराधना के लिए अन्य गण में जाने की आवश्यकता प्रतीत हो तो उन्हें अपना पद किसी योग्य साधु को सौंप कर और उनकी स्वीकृति मिलने पर ही जाना चाहिए, स्वीकृति मिले विना अन्य गण में नहीं जाना चाहिए।

सूत्र २३

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अन्नं गणं
संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए,
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा, उवज्झायं वा, पवत्तिं वा, थेरं वा,
गणिं वा, गणहरं वा, गणावच्छेइयं वा,
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।

कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
ते य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
ते य से नो वियरेज्जा,
एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा
एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा,
एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं
विहरित्तए ॥२३॥

भिक्षु यदि स्व-गण से निकलकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार स्वीकार करना चाहे तो—

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है—किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

अन्य गण में उत्कृष्ट धार्मिक शिक्षा प्राप्त होती हो तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है—किन्तु अन्यगण में उत्कृष्ट धार्मिक शिक्षा प्राप्त न होती हो तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—एक मण्डली में एक साथ बैठना-उठना, खान-पान करना, अन्य दैनिक कर्त्तव्यों का एक साथ पालन करना 'संभोग' कहलाता है।

समवायांगसूत्र में संभोग के बारह भेद बतलाये गये हैं—१. उपधि, २. भक्तपान, ३. अंजलिप्रग्रह, ४. दायन (वस्त्रादि-प्रदान), ५. निकाचन

(निमन्त्रण), ६. अभ्युत्थान, ७. कृतिकर्मकरण, ८. वैयावृत्यकरण, ९. समवसरण, १०. संनिषद्या, ११. कथा और १२. प्रबन्धन ।

भाष्यकार और टीकाकारों ने यद्यपि इसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है कि किस प्रकार के संभोग के प्रत्यय (निमित्त) से साधु अन्य गण में जाना चाहें और न उन्होंने इस स्थल पर संभोग के बारह भेद ही बतलाये हैं । किन्तु समवायांगसूत्र-प्रतिपादित उक्त भेदों में वैयावृत्यकरण और समवरण आदि कुछ संभोग विशेषों के निमित्त से साधु को अन्य गण में जाने की इच्छा हो सकती है । यदि अन्य गण में कोई विशिष्ट साधु असाध्य रोग-ग्रस्त है, या संथारा धारण कर रहा है और वहाँ पर उसकी समुचित वैयावृत्य करने वाले पर्याप्त या योग्य साधु नहीं है, तो दूसरे गण का साधु उसकी वैयावृत्य करने के लिए जाने की इच्छा कर सकता है । इसी प्रकार दूसरे गण में समवसरण हो अर्थात् अनेक गण के साधुओं का सम्मेलन हो, या तत्त्वनिर्णय कथा शास्त्रार्थ आदि हो तो उसमें सम्मिलित होने की इच्छा हो सकती है । इस प्रकार के संभोग-प्रत्यय से यदि साधु अन्य गण में जाना चाहे तो उसे अपने आचार्य आदि से—जिनकी की निश्रा में वह रहा है—स्वीकृति लेकर ही जाना चाहिए । बिना स्वीकृति के नहीं जाना चाहिए ।

सूत्र-पठित 'जत्थुत्तरियं लभेज्जा' इस वाक्य से यह भी सूचित किया गया है कि जब कोई साधु यह देखे कि इस संघ में रहते हुए, एक मण्डली में खान-पान एवं अन्य कृति कर्म करते हुए भाव-विशुद्धि के स्थान पर संक्लेशवृद्धि हो रही है, और इस कारण से मेरे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि की समुचित साधना नहीं हो रही है, तब वह अपने को संक्लेश से बचाने के लिए तथा ज्ञान-चारित्रादि की वृद्धि के लिए अन्य गण में जहाँ पर कि उच्चतर धर्म लाभ की संभावना हो,जाने की इच्छा करे तो वह जिसकी निश्रा में रह रहा है उनकी अनुज्ञा लेकर की जावे, अन्यथा नहीं ।

सूत्र २४

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए,
नो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं
अनिक्खिवित्ता
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं
निक्खिवित्ता णं
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
ते य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
ते य से नो वियरेज्जा,
एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा,
एवं से कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा,
एवं से नो कप्पइ अन्नं गणं संभोगपडियाए
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२४॥

गणावच्छेदक यदि स्वगण से निकलकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार स्वीकार करना चाहे तो—

गणावच्छेदक का पद छोड़कर अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है किन्तु आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

अन्य गण में उत्कृष्ट धार्मिक शिक्षा प्राप्त होती हो तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है—किन्तु अन्य गण में उत्कृष्ट धार्मिक शिक्षा प्राप्त न होती हो तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २५

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म
इच्छेज्जा अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए,
नो से कप्पइ आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
कप्पइ से
आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ताणं
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए।
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
ते य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
ते य से नो वियरेज्जा,
एवं से नो कप्पइ
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा,
एवं से कप्पइ
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए।
जत्थुत्तरियं धम्मविणयं नो लभेज्जा,
एवं से नो कप्पइ,
अन्नं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ॥२५॥

आचार्य या उपाध्याय यदि स्वगण से निकलकर अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना चाहे तो—

दोनों को अपने पदों का त्याग करके अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है। किन्तु उन्हें पूछकर अन्यगण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

अन्य गण में उत्कृष्ट धार्मिक शिक्षा प्राप्त होती हो तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना कल्पता है। किन्तु अन्य गण में उत्कृष्ट धार्मिक शिक्षा प्राप्त न होती हो तो अन्य गण के साथ साम्भोगिक व्यवहार करना नहीं कल्पता है।

सूत्र २६

भिक्खू य इच्छेज्जा,
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए,
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव—गणावच्छेइयं वा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
ते य से वियरेज्जा
एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
ते य से नो वियरेज्जा,
एवं से नो कप्पइ
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवित्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए ।
कप्पइ से तेसिं कारणं दीवित्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए ॥२६॥

भिक्षु यदि अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना चाहे तो अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरु भाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है—किन्तु अपने आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरु-भाव से स्वीकार करना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना कल्पता है ।

वे यदि आज्ञा न दें तो अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

स्वगण के आचार्य या उपाध्याय को कारण बताये विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

किन्तु स्वगण के आचार्य या उपाध्याय को कारण बताकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है ।

सूत्र २७

गणावच्छेइए य इच्छेज्जा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए;
नो से कप्पइ
गणावच्छेइयत्तं अनिक्खिवित्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए ।
कप्पइ से गणावच्छेइयस्स
गणावच्छेइयत्तं निक्खिवित्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए ।
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए ।

कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
ते य से वियरेज्जा,
एवं से कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
ते य से नो वियरेज्जा
एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता
अन्नं आयरियं वा उवज्झायं वा उद्दिसावेत्तए ॥२७॥

गणावच्छेदक यदि अन्यगण के आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना चाहे तो—

गणावच्छेदक को अपना पद छोड़े विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है, किन्तु अपना पद छोड़कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना कल्पता है।

स्वगण के आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है किन्तु उन्हें पूछकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना कल्पता है।

स्वगण के आचार्य या उपाध्याय को कारण बताए विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है, किन्तु उन्हें कारण बताकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना कल्पता है।

सूत्र २८

आयरिय-उवज्झाए इच्छेज्जा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए;
नो से कप्पइ
आयरिय-उवज्झायत्तं अनिक्खिवित्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।

कप्पइ से
आयरिय-उवज्झायत्तं निक्खिवित्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
नो से कप्पइ अणापुच्छित्ता
आयरियं वा-जाव-गणावच्छेइयं वा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
कप्पइ से आपुच्छित्ता
आयरियं वा जाव-गणावच्छेइयं वा
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
ते य से वियरेज्जा
एवं से कप्पइ अन्नं आयरिअ-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
ते य से नो वियरेज्जा
एवं से नो कप्पइ अन्नं आयरिअ-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
नो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता
अन्नं आयरिअ-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए।
कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता
अन्नं आयरिय-उवज्झायं उद्दिसावेत्तए ॥२८॥

आचार्य या उपाध्याय अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना चाहें तो—

आचार्य या उपाध्याय का अपना पद छोड़े विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है। किन्तु अपना पद छोड़ कर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना कल्पता है।

स्वगण के आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछे विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है किन्तु उन्हें पूछकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना कल्पता है।

स्वगण के आचार्य या उपाध्याय को कारण बताए विना अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना नहीं कल्पता है, किन्तु उन्हें कारण बताकर अन्य आचार्य या उपाध्याय को गुरुभाव से स्वीकार करना कल्पता है।

विष्वग्भवनप्रकृतम्

सूत्र २६

भिक्खू य राओ वा वियाले वा
आहच्च वीसुंभेज्जा,
तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे भिक्खू इच्छेज्जा
एगंते वहुफासुए पएसे परिट्ठवेत्तए;
अत्थि य इत्थ केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए
अचित्ते परिहरणारिहे
कप्पइ से सागारिकडं गहाय तं सरीरगं एगंते वहुफासुए पएसे परिट्ठवेत्ता
तत्थे व उवनिक्खिवियव्वे सिया ॥२६॥

विष्वग्भवन प्रकरण

यदि कोई भिक्षु रात्रि में या विकाल में मर जाय तो उस मृत भिक्षु के शरीर को कोई वैयावृत्य करने वाला साधु एकान्त में सर्वथा अचित्त प्रदेश पर परठना चाहे उस समय—

यदि वहाँ उपयोग में आने योग्य गृहस्थ का अचित्त उपकरण (वहनकाष्ठ) हो तो—"वह उपकरण (वहनकाष्ठ) गृहस्थ का ही है—मेरा नहीं है" ऐसा मानकर उस उपकरण को ग्रहण करे और उससे उस मृत भिक्षु के शरीर को एकान्त में सर्वथा अचित प्रदेश पर परठे—वाद में उस उपकरण (वहनकाष्ठ) को यथास्थान रख देना चाहिए।

विशेषार्थ—साधु-समाचारी यह है कि साधुगण जहाँ पर मासकल्प या वर्षावास करने का विचार करते हैं, वहाँ पर आचार्य सर्व प्रथम यह देखें कि यह स्थान ठहरने के योग्य है, या नहीं ? यदि ठहरने के योग्य है तो वे अपने साथ में विद्यमान साधुओं में अमुक साधु भक्त-प्रत्याख्यान वाला है, या अमुक साधु रोगी है, यदि इनमें से किसी का मरण हो जाय तो उसे उठाकर ले जाने के योग्य काष्ठ (वाँस, डोली) आदि यहाँ पर है, या नहीं ? मरण हो जाने पर मृत शरीर को परठने योग्य भूमि कौनसी है, इन सब का भली-भाँति से अवलोकन करके वे मासकल्प या वर्षावासकल्प स्थापित करें। इस निवास काल में यदि भक्तप्रत्याख्यानी साधु का, रुग्ण साधु का, या साँप आदि के काटने से किसी अन्य साधु का दिन (के अन्तिम प्रहर) में मरण हो जाता है तो उस शव को वसति या उपाश्रय में रात्रि भर रखना उचित

नहीं है, क्योंकि भाष्यकार कहते हैं जिस समय मरण हो, उस शव का उसी समय बाहर निष्काशन कर देना चाहिए। अतः संघ के वैयावृत्य करने वाले साधु यदि चाहें तो वे रात्रि में भी परठने योग्य भूमि पर ले जाकर परठ सकते हैं।

भाष्यकार ने शव के परठने योग्य दिशा का भी वर्णन किया है। साधुओं के निवास स्थान से दक्षिण-पश्चिम दिशा (नैॠत्यकोण) शव के परठने के योग्य शुभ बतलायी है। इस दिशा में परठने पर संघ में समाधि रहती है। यदि उक्त दिशा में परठने योग्य स्थान न मिले तो दक्षिण दिशा में शव को परठे और उस में योग्य स्थान न मिलने पर दक्षिण-पूर्व दिशा में परठे। शेष सब दिशाएँ अशुभ बतलायी गई है, उनमें शव के परठने पर संघ में कलह, भेद और रोगादि की उत्पत्ति सूचित की गई है।

यदि शव को रात्रि में रखना पड़े तो संघ के साधु रात्रि भर जागरण करते हैं, शव में कोई भूत-प्रेत प्रविष्ट न हो जाय इसके लिए हाथ और पैर के दोनों अंगुष्ठों को डोरी से बाँध देते हैं, मुख वस्त्र (मुंहपत्ती) से मुख को ढक देते हैं और अंगुली के मध्य भाग का छेदन कर देते हैं, क्योंकि क्षत-देह में भूत-प्रेतादि प्रवेश नहीं करते हैं।

इसके अतिरिक्त भाष्यकार ने मृत साधु के शव को किस प्रकार ले जावे, परठते समय उसके समीप कौन-कौन से उपकरण रखे, इत्यादि बातों का भी विस्तार से वर्णन किया है।

अधिकरणप्रकृतम्

सूत्र ३०

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु, तं अहिगरणं अविओसवेत्ता
नो से कप्पइ गाहावइकुलं
भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा;
नो से कप्पइ बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा;
नो से कप्पइ
गामाणुग्गामं वा दुइज्जित्तए;
[1]गणाओ वा गणं संकमित्तए;
वासावासं वा वत्थए।

---

[1]चिह्नितपाठः सभाष्यपुस्तके नास्ति।

जत्थेव अप्पणो आयरिय-उवज्झायं पासेज्जा
बहुस्सुयं, बब्भागमं,
कप्पइ[1] से तस्संतिए
आलोएत्तए, पडिक्कमित्तए,
निन्दित्तए, गरिहित्तए,
विउट्टित्तए, विसोहित्तए,
अकरणाए अब्भुट्ठित्तए,
अहारिहं तवोकम्मं पयच्छित्तं पाडिवज्जित्तए।
से य सुएणं पट्ठविए आइयव्वे सिया,
से य सुएणं नो पट्ठविए नो आइयव्वे सिया।
से य सुएणं पट्ठविज्जमाणे नो आइयइ
से निज्जूहियव्वे सिया ॥३०॥

अधिकरण प्रकरण

यदि कोई भिक्षु अधिकरण (कलह) करके उस अधिकरण को उपशान्त न करे तो—

१. उसे गृहस्थों के घरों में भक्त-पान के लिए निष्क्रमण-प्रवेश करना,
२. स्वाध्याय भूमि में अथवा उच्चार-प्रश्रवण भूमि में प्रवेश करना,
३. ग्रामानुग्राम गमन करना,
४. एक गण से गणान्तर में संक्रमण करना, और
५. वर्षावास में वसना नहीं कल्पता है।

जहाँ वह अपने बहुश्रुत और बहुआगमज्ञ आचार्य या उपाध्याय को देखे वहाँ वह उनके समीप आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निन्दा करे, गर्हा करे, पाप से निवृत्त होवे, पाप फल से शुद्ध होवे, पुनः पाप कर्म न करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होवे और यथायोग्य तपःकर्म प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

वह प्रायश्चित्त यदि श्रुतानुसार प्रस्थापित हो (दिया जावे) तो उसे ग्रहण करना चाहिए। किन्तु श्रुतानुसार प्रस्थापित न हो तो ग्रहण नहीं करना चाहिए।

यदि श्रुतानुसार प्रस्थापित प्रायश्चित्त वह (अधिकरण करने वाला) स्वीकार न करे तो उसे गण से निकाल देना चाहिए।

---

१ तस्संतिए आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा।

परिहारिकप्रकृतम्

सूत्र ३१

परिहारकप्पट्ठियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ

आयरिय[1]-उवज्झायाणं तद्दिवसं एगगिहंसि पिंडवायं दवावेत्तए।

तेण परं नो से कप्पइ

असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥३१॥

पारिहारिक-प्रकरण

जिस दिन परिहार तप स्वीकार किया है उस दिन परिहार कल्प-स्थित भिक्षु को एक घर से विपुल सुपाच्य आहार दिलाना आचार्य या उपाध्याय को कल्पता है।

सूत्र ३२

कप्पइ से अन्नयरं वेयावडियं करेत्तए,

तं जहा—

उट्ठावणं वा, निसीयावणं वा, तुयट्ठावणं वा,

उच्चार-पासवण-खेल-जल्लसिंघाणाणं विगिंचणं वा विसोहणं वा करेत्तए।

उसके बाद उसे अशन यावत् स्वादिम देना या बार-बार देना नहीं कल्पता है—किन्तु किसी एक प्रकार की वैयावृत्य करना कल्पता है, यथा—

परिहार कल्पस्थित भिक्षु को उठावे, बिठावे, करवट बदलावे, उसके मल-मूत्र श्लेष्मादि परठे, मल-मूत्रादि से लिप्त उपकरणों को शुद्ध करे।

सूत्र ३३

अह पुण एवं जाणेज्जा—

छिन्नावाएसु पंथेसु

तवस्सी[2] आउरे झिंझिए

पिवासिए, दुब्बले, फिलंते

मुच्छेज्ज वा सवडेज्जा वा

एवं से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥३३॥

---

१ आयरिय—उवज्झाएणं।

२ 'तवस्सी' पदं क्वचित् 'पिवासिए' के बाद है।

यदि आचार्य या उपाध्याय यह जाने कि ग्लान बुभुक्षित तृषित तपस्वी दुर्बल एवं क्लान्त होकर गमनागमन-रहित मार्ग में कहीं मूर्च्छित होकर गिर जाएगा तो उसे अशन-यावत्-स्वादिम देना या वार-वार देना कल्पता है।

विशेषार्थ—प्रस्तुत सूत्र में परिहार कल्पस्थित साधु के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह वतलाया गया है। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि जो साधु संघ के साधुओं के या गृहस्थों के साथ कलह करे, संयम की विराधना आदि करे और आचार्य के द्वारा प्रायश्चित्त दिये जाने पर भी उसे स्वीकार न करे, ऐसे साधु को परिहार तप रूप प्रायश्चित्त षष्ठभक्त, अष्टभक्त, मास आदि की मर्यादा से नियत समय के लिए दिया जाता है। उसकी विधि यह है कि प्रशस्त द्रव्य क्षेत्र काल भाव में जिसे परिहारतप में स्थापित किया जा रहा है उसके लिए निर्विघ्न तप की समाप्ति के लिए तथा अन्य साधुओं को भय उत्पन्न करने के लिए—जिससे कि वे वैसा कार्य न करें—सारे संघ को सर्व-प्रथम कायोत्सर्ग करना चाहिए। उसके पश्चात् आचार्य मन में चतुर्विंशति स्तवन का चिन्तवन करके 'नमो अरिहंताण' यह मुख से उच्चारण करके और चतुर्विंशतिस्तव को भी बोलकर संघ से कहें कि यह साधु अपने अपराध की शुद्धि के लिए परिहार तप को प्राप्त हो रहा है, इसलिए तपके पूर्ण होने तक आज से यह न तुम लोगों से कुछ कहेगा और न तुम लोग ही इससे कुछ कहना। यह न तुम लोगों से सूत्रार्थ और कुशल-क्षेम पूछेगा और न तुम लोग ही इससे कुछ पूछना। न यह तुम लोगों को वन्दना करेगा और न तुम लोग ही इसको वन्दना करना। कोई भी साधु आज से इसके साथ न वार्तालाप करे, न साथ उठे-वैठे, न विचार (नीहार) भूमि को साथ जावे, न गोचरी के समय साथ जावे और न एक मण्डली में आहारादि ही करावे।

जिस दिन उस साधु को परिहार तप में स्थापित किया जाता है, उस दिन जहाँ पर किसी उत्सव आदि के निमित्त से सरस आहार वना हो, वहाँ पर आचार्य उसे साथ ले जाकर उसे भरपूर भक्त-पान दिलाते हैं कि जिससे वह भर पेट खाकर तृप्त हो जाय। उसके पश्चात् न आचार्य ही उसे भक्त-पान प्रदान करते हैं और न संघ के साधु ही। किन्तु जो साधु उसकी वैयावृत्य के लिए आचार्य द्वारा नियुक्त किया जाता है, वह उसके खान-पान का ध्यान रखता है। वह गोचरी के समय उसके साथ जाता है और उसकी झोली में से पात्र निकालकर उसमें भक्त-पान दिलवा करके पुनः उसकी झोली में रख देता है।

परिहार तप स्थित साधु जब स्वयं उठने-बैठने एवं चलने-फिरने आदि कार्य करने में असमर्थ हो जाता है तो उसकी वैयावृत्य करने वाला साधु उसकी सहायता करता है और गोचरी लाने में असमर्थ हो जाने पर भक्त-पान लाकर के उसे देता है। परिहार तपःस्थित साधु तपके पूर्ण होने तक मौन धारण किये रहता है और अपने मन में आत्मालोचन करता हुआ तप को पूर्ण करता है।

परिहार तप एक प्रकार से संघ से बहिष्कार रूप ही प्रायश्चित्त है, तो भी उसके साथ कैसी सहानुभूति रखी जानी चाहिए, यह इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है।

महानदीप्रकृतम्

सूत्र ३४

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
इमाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ
उद्दिट्ठाओ, गणियाओ, वंजियाओ,
अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा
उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा
तं जहा—
१. गंगा, २. जउणा, ३. सरऊ, ४. कोसिया, ५. मही ॥३४॥

महानदी प्रकरण

ये पाँच महानदियाँ समुद्रगामिनी हैं, प्रमुख हैं अतएव प्रसिद्ध हैं।

इन नदियों को एक मास में एक या दो बार उतरना या नाव द्वारा पार करना निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को नहीं कल्पता है, यथा—

१. गंगा, २. यमुना, ३. सरयू, ४. कोशिका, ५. मही।

विशेषार्थ—जिन नदियों में निरन्तर जल बहता रहता है और अगाध जल होता है वे महानदियाँ कही जाती हैं। यद्यपि भारतवर्ष में ऐसी महानदियाँ सूत्रोक्त पांच के अतिरिक्त सिन्धु, ब्रह्मपुत्रा आदि अनेक पूर्वकाल में भी थी, किन्तु उनका उल्लेख सूत्र में न किये जाने का कारण यह है कि जिस समय उक्त सूत्र रचा गया, उस समय साधुगण अधिकतर इन नदियों के मध्यवर्ती क्षेत्र में ही विहार करते थे। फिर भी महार्णव (विपुल जल वाली) और महानदी पद से उन सबका संग्रह कर लिया गया है। सूत्र में जो 'उत्तरित्तए' पद है उसका

अर्थ है—स्वयं जल में प्रवेश करके पार करना तथा जो 'संतरित्तए' पद है, उसका अर्थ है—नाव आदि में बैठकर पार करना। साधु के स्वयं जल में प्रवेश करके पार करने पर जलकायिक जीवों की तो विराधना होती ही है, किन्तु नदी के तल भाग में स्थित कण्टक आदि पैर में लगने से, पत्थर से टकराने से, या जल के कहीं गहरे होने पर डूबने से, या जल-प्रवाह के वेग से बह जाने आदि कारणों से आत्म-विराधना भी होती है तथा नाव आदि से पार करने पर षड्कायिक जीवों की विराधना तो होती है, किन्तु नाविक आदि अन्य की अनुकम्पा पर निर्भर रहना पड़ता है, यदि पार उतरने के इच्छुकजनों को रोककर नाविक पहले साधुओं को पार उतारे तो उनके कोप का भाजन बनना पड़ता है, इससे वे रुष्ट होकर साधुओं के वस्त्र-पात्रादि को जल सींचकर गीला कर सकते हैं अथवा उठाकर नदी में भी फेंक सकते हैं, नाविक पार उतारने पर तर-पण्य (उतराई) मांगे, तो देने की समस्या भी उत्पन्न हो सकती है कि क्या दिया जाय। इत्यादि अनेक दोषों के कारण तीर्थंकरों ने स्वयं या नावादि से पार उतरने का निषेध किया है। यदि कारण विशेष से पार जाने-आने का अवसर आ ही जाय तो एक मास में एक बार ही पार करना चाहिए, क्योंकि सूत्र में दो या तीन बार नावादि से पार उतरने का स्पष्ट निषेध किया है। एक बार पार उतरने पर भी साधु चतुर्लघु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

सूत्र ३५

अह पुण एवं जाणेज्जा—
एरावई कुणालाए
जत्थ चक्किया—
एगं पायं जले किच्चा, एगं पायं थले किच्चा—
एवं णं कप्पइ अंतोमासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा
उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा,
जत्थ एवं नो चक्किया
एवं णं नो कप्पइ अंतो मासस्स
दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा
उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ॥३५॥

यदि यह ज्ञात हो जाए कि कुणाला नगरी के समीप एरावती नदी

एक पैर जल में और एक पैर स्थल में रखते हुए पार की जा सकती है तो एक मास में दो या तीन वार पार करना कल्पता है।

यदि उक्त प्रकार से पार न की जा सके तो उस नदी को एक मास में दो या तीन वार उतरना या नाव से पार करना नहीं कल्पता है।[1]

विशेषार्थ--कुणाला नगरी और ऐरावती नदी का निर्देश उपलक्षण रूप है, अतः जहाँ साधुगण मासकल्प या वर्षाकल्प से रह रहे हों और उस नगर के समीप भी कोई उथली नदी हो, जिसका कि जल जंघार्ध प्रमाण ही वहता हो तथा उसके जल में एक पैर रखकर और एक पैर किनारे की भूमि पर रखकर आना-जाना सम्भव हो तो साधु उस पारवर्ती रोगी साधु की वैयावृत्य आदि विशेष कारण से आ-जा सकता है। भाष्यकार ने ऐरावती जैसी उथली नदी को पार करने की विधि का विस्तार से वर्णन करते हुए लिखा है कि उथली नदी भी चार प्रकार की होती है—(१) जहाँ नीचे पाषाण हो, (२) जहाँ नीचे बालू हो, (३) जहाँ नीचे शुद्ध पृथ्वी हो, और (४) जहाँ नीचे कीचड़ हो। इनमें कीचड़ वाली भूमि से पार उतरने पर अनेक अपाय सम्भव हैं, अतः उस मार्ग से पार नहीं उतरना चाहिए। किन्तु शेष तीन मार्गों से पार उतरा जा सकता है। यदि वर्षाकाल में ऐसी नदी को पार करना पड़े तो अधिक से अधिक सात वार पार किया जा सकता है शेष ऋतुवद्धकाल में तीन वार पार करना कल्पता हैं, यतना से नदी पार करने पर भी कायोत्सर्ग तो तत्काल करना आवश्यक है ही। किन्तु यथासम्भव चतुर्लघु आदि प्रायश्चित्त भी उसके लिए बतलाया गया है।

उपाश्रयप्रकृतम्

सूत्र ३६

से तणेसु वा, तणपुंजेसु वा
पलालेसु वा, पलालपुंजेसु वा
अप्पण्डेसु अप्पपाणेसु
अप्पबीएसु अप्पहरिएसु

---

१ (क) स्थानांग अ० ५, उ० २, सू० ९८-९९।
(ख) आचारदशा—दशा ८, सू० ३३।
(ग) निशीथ—उद्दे० १२, सू० ४२।

अप्पोसेसु अप्पुत्तिग-पणग-दग-मट्टिय-मक्कडगसंताणएसु
अहे सवणमायाए
नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए
से तणेसु वा-जाव-संताणएसु
उप्पि सवणमायाए
कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-गिम्हासु वत्थए ॥३६॥

उपाश्रय विधि प्रकरण

जिस उपाश्रय में तृण या तृणपुंज हो, अथवा पराल या परालपुंज हो और वह अंडे द्वीन्द्रियादि प्राणी वीज अंकुर नमी चिटियां पनक (पाँच वर्ण की लीलण-फूलण) पंक एवं मकड़ी के जालों से रहित हो किन्तु उस उपाश्रय के छत (छान) की ऊँचाई कानों से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में वसना नहीं कल्पता है।

जिस उपाश्रय में तृण या तृणपुंज हो, अथवा पराल या परालपुंज हो और वह अण्डे द्वीन्द्रियादि प्राणी वीज अंकुर नमी चींटियाँ पनक पंक एवं मकडी के जालों से रहित हो (साथ ही) उपाश्रय की छत की ऊँचाई कानों से ऊँची हो तो ऐसे उपाश्रय में निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में वसना कल्पता है।

सूत्र ३७

से तणेसु वा जाव संताणएसु
अहेरयणिमुक्कमउडेसु
नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥३७॥

जिस उपाश्रय में तृण या तृणपुंज हो,—यावत् मकडी के जालों से रहित हो किन्तु उपाश्रय के छत की ऊँचाई खड़े व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनों हाथ जितनी ऊँचाई से नीची हो तो ऐसे उपाश्रय में वर्षावास में वसना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३८

से तणेसु वा-जाव संताणएसु
उप्पि रयणिमुक्कमउडेसु

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए।
त्ति बेमि ॥३८॥

जिस उपाश्रय में तृण या तृणपुंज हो,—यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो और साथ ही उपाश्रय के छत की ऊँचाई खड़े व्यक्ति के सिर से ऊपर उठे सीधे दोनों हाथ जितनी ऊँचाई से अधिक हो तो ऐसे उपाश्रय में वर्षावास में वसना कल्पता है।

विशेषार्थ—उपर्युक्त चार सूत्रों में से प्रथम सूत्र में यह वतलाया गया है कि जिस उपाश्रय के आच्छादन करने वाले ऊपरी भाग में सूखा घास, या सूखा धान्य आदि का पलाल, भूसा-फूस आदि रखा हो और उसमें किसी भी जीव के अण्डे न हों, त्रस जीव भी न हों, सूखे या हरित अंकुर भी न हों, ओस विन्दु भी न हों और कीड़ी-मकोड़ों के घर भी न हों, लीलण-फूलण या कीचड़ आदि भी न हो और मकड़ी का जाला आदि भी न हो। किन्तु उसकी ऊँचाई साधु के कानों से नीची है तो ऐसे उपाश्रय में साधु या साध्वियों को हेमन्त और ग्रीष्मकाल में नहीं रहना चाहिए। किन्तु उक्त प्रकार के उपाश्रय की ऊँचाई साधु के कानों से ऊँची हो तो उसमें साधु और साध्वियाँ हेमन्त और ग्रीष्मऋतु में ठहर सकते हैं। यह वात दूसरे सूत्र में वतलायी गयी है। तीसरे सूत्र में यह वतलाया गया है कि उक्त प्रकार के शुद्ध उपाश्रय की ऊँचाई भी यदि रत्नि-मुक्तमुकुट से नीची है तो उस उपाश्रय में वर्षावास में रहना साधु-साध्वियों को नहीं कल्पता है। यदि उसकी ऊँचाई रत्नि-मुक्त मुकुट से ऊँची है तो उसमें साधु-साध्वी वर्षावास में रह सकते हैं। रत्नि नाम हाथ का है। दोनों हाथों को ऊँचा करके दोनों अंजलियों को मिलाने पर मुकुट जैसा आकार हो जाता है, अतः उसे 'रत्नि-मुक्त मुकुट' कहते हैं।

हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में कान की ऊँचाई से नीचे उपाश्रय में रहने के निषेध का कारण यह वतलाया गया है कि साधु-साध्वियों को इतने नीचे उपाश्रय में आते जाते झुकना पड़ेगा, भीतर भी सीधी रीति से नहीं खड़ा हो सकने के कारण वन्दनादि करने में भी अड़चन होगी। सीधे खड़े होने पर सिर के टकराने से या ऊपर रहने वाले विच्छू आदि के डंक मारने से अपाय की भी सम्भावना रहती है, अतः जो उपाश्रय कानों से नीचे हो, उसमें हेमन्त और ग्रीष्मकाल में नहीं रहना चाहिए। किन्तु जो उपाश्रय कानों की ऊँचाई से

ऊँचे हों, उनमें उक्त ऋतुओं में रह सकते हैं। वर्षाऋतु में रहने योग्य उपाश्रय की ऊँचाई रत्निमुक्त मुकुट से भी अधिक होनी चाहिए। इसका कारण यह बतलाया गया है कि वर्षाकाल में सर्प प्रायः ऊँचे स्थान पर जहाँ पानी का प्रवेश नहीं हो सकता है—रहने लगते हैं। साँप अपने रहने के ऊपरी स्थान से एक हाथ नीचे तक फण लटका कर डस सकते हैं। अतः यदि उपाश्रय रत्निमुक्त मुकुट प्रमाण न हो तो रात्रि में साधु के खड़े होने पर, हाथ आदि के किसी कारण ऊँचे करने पर साँप आदि के द्वारा डसने का भय रहता है। अतः जो उपाश्रय उक्त प्रमाण से कम ऊँचा हो उसमें वर्षाकाल में साधु-साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता है।

सूत्र-पठित 'अप्पंडेसु अप्पपाणेसु', आदि पदों के 'अल्प' शब्द का अभाव अर्थ लिया गया है। भाष्यकार ने यह भी बताया है कि बीज-मृत्तिकादि युक्त तृणादिवाले उपाश्रय में ठहरने पर चतुर्लघुक, और अनन्तकाय-पनक आदि युक्त उपाश्रय में ठहरने पर चतुर्गुरुक प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसी प्रकार प्रतिपादित ऊँचाई से नीचे उपाश्रय में रहने पर भी चतुर्लघु प्रायश्चित्त बतलाया गया है। भाष्यकार ने यह भी बताया है कि वर्षावास में उक्त प्रकार के योग्य उपाश्रय में रहते हुए यदि तृणाच्छादन में सांप का निवास प्रतीत हो तो उसे विद्या से मंत्रितकर देवे। यदि ऐसा न कर सके तो उक्त आच्छादन के नीचे चंदोवा बंधवा देवे। इसके भी अभाव में ऊपर वांस की चटाई लगा देना चाहिए, जिससे कि ऊपर से साँप द्वारा लटककर काटने का भय न रहे। यदि चटाई लगाना भी सम्भव न हो तो रहने वाले साधुओं को चिलमिलिका का उपयोग करना चाहिए।

उपर्युक्त सर्व कथन उस उपाश्रय या वसति का है, जो कि घास-फूस आदि से निर्मित और आच्छादित है, या जिसके ऊपरी भाग में घास आदि रखा हो।

चउत्थो उद्देसो समत्तो

चतुर्थ उद्देशक समाप्त

पंचमो उद्देसओ

पंचम उद्देशक

ब्रह्मापाय प्रकृतम्

सूत्र १

देवे य इत्थिरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहिज्जा,
तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुण पडिसेवणपत्ते
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१॥

ब्रह्मापाय प्रकरण

यदि कोई देव (विकुर्वणा शक्ति से) स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे और वह उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुन सेवन नहीं करने पर भी) मैथुन सेवन के दोष को प्राप्त होता है अतः वह (निर्ग्रन्थ) अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र २

देवे[1] य पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहिज्जा,
तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता,
आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥२॥

यदि कोई देवी (विकुर्वणा शक्ति से) पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिंगन करे और वह उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुन सेवन नहीं करने पर भी) मैथुन सेवन के दोष को प्राप्त होती है अतः वह निर्ग्रन्थी अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

सूत्र ३

देवी[2] अ इत्थियरूवं विउव्वित्ता निग्गंथं पडिग्गाहेज्जा,

---

१ क्वचिदिदं चतुर्थं सूत्रं।

२ सूत्रमिदं द्वितीयं क्वचित्।

तं च निग्गंथे साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ते
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥३॥

यदि कोई देवी (विकुर्वणा शक्ति से) स्त्री का रूप बनाकर निर्ग्रन्थ का आलिगन करे और वह उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुन सेवन नहीं करने पर भी) मैथुन सेवन के दोष को प्राप्त होता है अतः वह निर्ग्रन्थ अनुद्-घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र ४

देवी[1] अ पुरिसरूवं विउव्वित्ता निग्गंथिं पडिग्गाहेज्जा,
तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा मेहुणपडिसेवणपत्ता
आवज्जइ चाउम्मासियं अणुग्घाइयं ॥४॥

यदि कोई देव पुरुष का रूप बनाकर निर्ग्रन्थी का आलिगन करे और वह उसके स्पर्श का अनुमोदन करे तो (मैथुन सेवन नहीं करने पर भी) मैथुन सेवन के दोष को प्राप्त होती है अतः वह (निर्ग्रन्थी) अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विशेषार्थ—चतुर्थ उद्देशक के अन्तिम चार सूत्रों में तृणादि से आच्छादित जिन उपाश्रयों का वर्णन किया गया है, वे प्रायः नगर ग्रामादि के बाहर एकान्त वन प्रदेश में होते थे। ऐसे निर्जन स्थानों पर प्रायः व्यन्तरादि का निवास भी होता था।

अपने स्थान पर ठहरने वाले किसी तपोधन निर्ग्रन्थ को एकाकी देखकर या व्यन्तरायतन के समीप होकर जाने वाली रूप सम्पदा सम्पन्न निर्ग्रन्थी को देखकर कोई देव या देवी मनुष्य या मानुषी का रूप बनाकर प्रिय वचन बोले, भोगाकांक्षा व्यक्त करे, निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी का आलिगन करे, चुम्बन करे और इससे द्रवित होकर निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी आलिगनादि से सुखानुभव करे या मैथुन सेवन की अभिलाषा करे तो ये गुरु चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

अधिकरण प्रकृतम्

सूत्र ५

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु,
तं अहिगरणं अविओसवेत्ता इच्छेज्जा

---

१ इदं तृतीय सूत्रं क्वचित्।

अन्नं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरत्तिए,
कप्पइ तस्स पंचराइंदियं छेयं कट्टु
परिणिव्वाविय परिणिव्वाविय दोच्चं पि तमेव गणं पडिनिज्जाएयव्वे सिया,
जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥५॥

अधिकरण प्रकरण

भिक्षु (आचार्य उपाध्यायादि) अधिकरण (कलह) करे और उस अधिकरण को उपशान्त किये बिना अन्य गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे तो (गण के स्थविरों को) उसकी पाँच दिन-रात की दीक्षा का छेद करना कल्पता है और (कषायादि से संतप्त भिक्षु को कोमल वचन रूप सलिल से) सर्वथा शान्त प्रशान्त करके पुनः उसे उसी गण में लौटा देना उचित है। अथवा गण की प्रीति (सम्मति) के अनुसार करना उचित है।

विशेषार्थ—इस सूत्र का अभिप्रायः यह है कि यदि कोई भिक्षु (निर्ग्रन्थ) किसी कारण से क्रोधित होकर अन्य गण में चला जावे तो उस गण के स्थविरों को चाहिए कि उसे उपदेश देकर शान्त करे और उसकी पाँच दिन की दीक्षा का छेदन करे तथा उसे उसके पूर्व के गण में वापिस भेज दें। जिससे उस गण के निर्ग्रन्थ भिक्षुओं को यह विश्वास हो जाय कि अब इस निर्ग्रन्थ भिक्षु का क्रोध उपशान्त हो गया है।

भाष्यकार ने इस सम्वन्ध में इतना और लिखा है—

यदि गणी या उपाध्याय किसी कारण से क्रोधित होकर अन्य गण में चला जावे तो उस गण के स्थविर उन्हें भी कोमल वचनों से प्रशान्त करें और उनकी दश अहो-रात्र प्रमाण दीक्षा का छेदन करें। वाद में उन्हें उनके पूर्व के गण में लौटा दें।

यदि आचार्यादि भी क्रोधित होकर अन्य गण में चले जावें तो उन्हें भी उस गण के स्थविर कोमल वचनों से शान्त करें और उनकी पन्द्रह अहोरात्रि प्रमाण दीक्षा का छेदन कर उन्हें पूर्व के गण में लौटा दें।

जिन-जिन कारणों से कलह सम्भव है उनका भी भाष्यकार ने विस्तृत वर्णन किया है।

कषाय का व्यापक प्रभाव बताते हुए भाष्यकार ने कहा कि देशोनपूर्व कोटि काल तक तपश्चरण करके जिस संयम-चारित्र का उपार्जन किया है

वह एक मुहूर्त प्रमाण काल तक की गई कषाय से नष्ट हो जाता है। अतः निर्ग्रन्थ भिक्षु को कषाय करना ही नहीं चाहिए। यदि कदाचित् उत्पन्न हो जाय तो उसे तत्काल शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदि क्रोधावेश के कारण अपने गण को छोड़कर अन्य गण में गये हुए निर्ग्रन्थ भिक्षु आदि वहाँ के गण के स्थविरादि द्वारा समझाये जाने पर भी अपने पूर्व गण में सम्मिलित होना न चाहे तो गण के स्थविर सामान्य निर्ग्रन्थ भिक्षु की दश अहोरात्र, उपाध्याय या गणी की पन्द्रह अहोरात्र, आचार्य की बीस अहोरात्र दीक्षा का छेदन कर अपने गण में स्थान दें।

संस्तृत-निर्विचिकित्स-प्रकृतम्

सूत्र ६

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमिय-संकप्पो
संथडिए निव्वइगिच्छे[1]
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारं आहरेमाणे
अह पच्छा जाणेज्जा—
अणुग्गए सूरिए, अत्थमिए वा
से जं च आसयंसि, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे
तं विगिंचमाणे वा, विसोहमाणे वा णो अइक्कमइ।
तं अप्पणा भुंजेमाणे,
अन्नेसिं वा दलमाणे,
राइभोअणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं
अणुग्घाइयं ॥६॥

संस्तृत—निर्विचिकित्स प्रकरण

सूर्योदय पश्चात् और सूर्यास्त पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला तथा सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध में असंदिग्ध, सशक्त एवं प्रतिपूर्ण आहार करने वाला निर्ग्रन्थ भिक्षु (आचार्य या उपाध्याय आदि) अशन-यावत् स्वादिम (चतुर्विध आहार) ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि "सूर्योदय नहीं हुआ है अथवा सूर्यास्त हो गया है" तो उस समय जो आहार मुँह में है, हाथ में है, पात्र में है उसे परठदे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं होता है।

---

१ निव्विइगिच्छा समावण्णेणं।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रि-भोजन सेवन का दोष लगता है अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र ७

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे
संथडिए विइगिच्छासमावण्णेणं[1]
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्ता आहारं आहारेमाणे
अह पच्छा जाणेज्जा—
अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा,
से जं च आसयंसि, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे
तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा—
नो अइक्कमइ।
तं अप्पणा भुंजमाणे,
अन्नेसिं वा दलमाणे
राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥७॥

सूर्योदय पश्चात् और सूर्यास्त पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला किन्तु सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध में संदिग्ध सशक्त एवं प्रतिपूर्ण आहार करने वाला निर्ग्रन्थ भिक्षु (आचार्य या उपाध्याय आदि) अशन-यावत्-स्वादिम (चतुर्विध आहार) ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि "सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है" तो उस समय जो आहार मुँह में है, हाथ में है, पात्र में है उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो जिन आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रि-भोजन सेवन का दोष लगता है अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

सूत्र ८

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे
असंथडिए निव्विइगिच्छसमावण्णेणं

---

१ विइगिच्छासमावन्ने असणं वा।

असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारं आहारेमाणे
अह पच्छा जाणेज्जा
अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा,
से जं च आसयंसि, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहे
तं विगिंचमाणे वा, विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ।
तं अप्पणा भुंजमाणे,
अन्नेसिं वा दलमाणे,
राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं
अणुग्घाइयं ॥८॥

सूर्योदय पश्चात् और सूर्योदय पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला तथा सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध में असंदिग्ध अशक्त एवं प्रतिपूर्ण आहार न करने वाला निर्ग्रन्थ भिक्षु (आचार्य या उपाध्याय आदि) अशन-यावत्-स्वादिम (चतुर्विध आहार) ग्रहण कर आहार करता हुआ यदि यह जाने कि सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है" तो उस समय जो आहार मुँह में है, हाथ में है, पात्र में है—उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है ।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रि-भोजन सेवन का दोप लगता है अतः वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है ।

सूत्र ६

भिक्खू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे
असंथडिए विइगिच्छासमावण्णेणं
असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे
अह पच्छा जाणेज्जा—
अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा,
से जं च मुहे, जं च पाणिंसि, जं च पडिग्गहंसि
तं विगिंचमाणे वा, विसोहेमाणे वा न अइक्कमइ ।
तं अप्पणा भुंजमाणे,
अन्नेसिं वा दलमाणे,
राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥६॥

सूर्योदय पश्चात् और सूर्यास्त पूर्व भिक्षाचर्या करने की प्रतिज्ञा वाला किन्तु सूर्योदय या सूर्यास्त के सम्बन्ध में "**संदिग्ध अशक्त एवं प्रतिपूर्ण आहार न करने वाला** निर्ग्रन्थ भिक्षु (आचार्य या उपाध्याय आदि अशन-यावत्-स्वादिम (चतुर्विध आहार) ग्रहण करता हुआ यदि यह जाने कि "**सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है**" तो उस समय जो आहार मुँह में हैं, हाथ में हैं, पात्र में हैं उसे परठ दे तथा मुख आदि की शुद्धि कर ले तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

यदि उस आहार को वह स्वयं खावे या अन्य निर्ग्रन्थ को दे तो उसे रात्रि-भोजन सेवन का दोष लगता है अत: वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—उपर्युक्त इन चार सूत्रों में प्रथम सूत्र संस्तृत एवं निर्विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है। द्वितीय सूत्र संस्तृत एवं विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है। तृतीय सूत्र असंस्तृत एवं निर्विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।

चतुर्थ सूत्र असंस्तृत एवं विचिकित्स निर्ग्रन्थ की अपेक्षा से कहा गया है।

संस्तृत—शब्द का अर्थ है—समर्थ, स्वस्थ और प्रतिदिन पर्याप्त भोजी निर्ग्रन्थ भिक्षु।

असंस्तृत—शब्द का अर्थ है—असमर्थ, अस्वस्थ तथा तेलादि तपश्चर्या करने वाला तपस्वी।

असंस्तृत तीन प्रकार के होते हैं—१. तप-असंस्तृत, २. ग्लान-असंस्तृत और ३. अध्वान-असंस्तृत।

१. तप—असंस्तृत—तपश्चर्या करने सो जो निर्ग्रन्थ असमर्थ हो गया है।

२. ग्लान-असंस्तृत—रोग आदि से जो निर्ग्रन्थ अशक्त हो गया है।

३. अध्वान-असंस्तृत—मार्ग की थकान से जो निर्ग्रन्थ क्लान्त हो गया है।

विचिकित्स—पद का अर्थ है सूर्योदय हुआ या नहीं अथवा सूर्यास्त हुआ या नहीं—इस प्रकार के संशय वाला निर्ग्रन्थ भिक्षु।

निर्विचिकित्स—पद का अर्थ है संशय रहित—अर्थात् सूर्योदय हो गया है या सूर्यास्त नहीं हुआ है—इस प्रकार के निश्चय वाला निर्ग्रन्थ। पूर्वकाल में आकाश में जब बादल गहरे छाये हुए होते थे तब शमी आदि वृक्षों के पत्तों का

तथा सरोरूह् कमलों का संकोच—विकास देखकर ही सूर्योदय का निर्णय किया जाता था क्योंकि आधुनिक घटियन्त्र जैसे समय सूचक यन्त्र प्राचीन काल में नहीं थे। जहाँ ये प्राकृतिक समय सूचक साधन समीप न हो, वहाँ मेघाच्छन्न दिन में सूर्यास्त के सम्बन्ध में भ्रम होना सम्भव है। किन्तु सूर्योदय के सम्बन्ध में भ्रम होना कैसे सम्भव है? और प्रातःकाल इतना शीघ्र आहार का मिलना भी कैसे सम्भव हैं? इन प्रश्नों का समाधान भाष्यकार ने इस प्रकार किया है।

पूर्वकाल में निर्ग्रन्थ—निग्रन्थियाँ एक देश से अन्य देश में जाते समय वीच में पड़ने वाले वड़े अरण्य प्रदेशों में आत्मसुरक्षा के लिए सार्थवाहों के साथ विहार किया करते थे। सार्थवाह जहाँ सूर्यास्त हो जाता था वहीं पड़ाव डालकर ठहर जाते थे सूर्योदय होते ही आगे को चल देते थे। ऐसे पड़ावों पर आने जाने वाले सार्थवाह कभी कभी एक साथ ही ठहर जाते थे। मेघाच्छन्न आकाश में सूर्य न दिखने पर सूर्योदय का भ्रम हो जाय और सार्थवाह आगे के लिए प्रस्थान कर दे तथा उसी समय नया आने वाला सार्थवाह निर्ग्रन्थों या निर्ग्रन्थियों को आहार देना चाहे तो "सूर्योदय हो गया है" इस संकल्प से आहारदि लेना सम्भव है और उसका सेवन करना भी सम्भव है।

उसी समय वादल दूर हो जाय और तारे दीख जाय तो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को आहार का त्याग कर देना चाहिए। अन्यथा वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है।[1]

(यह विधान निर्ग्रन्थियों के लिए भी है)

उद्गार प्रकृतम्

सूत्र १०

इह खलु निग्गंयस्स वा निग्गंथीए वा
राओ वा वियाले वा
सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा
तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा नो अइक्कमइ।
तं उग्गलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते
आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥१०॥

---

१ निशीथ उ० १० सू० ६-६।

उद्गार प्रकरण

यदि किसी निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी को रात्रि में या विकाल (सन्ध्या) में पाणी और भोजन सहित उद्गाल आये तो उस समय वह उसे थूक दें और मुँह शुद्ध कर लें तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है यदि वह उद्गाल को निगल जाये तो उसे रात्रि-भोजन सेवन का दोष लगता है और वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक परिहार स्थान प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विशेषार्थ—जब कोई साधु मात्रा से अधिक खा-पी लेता है, तब-तब उसे उद्गाल आता है और पेट का अन्न और पान मुख में आ जाता हैं। इसलिए गुरुजनों का उपदेश है कि साधु को सदा मात्रा से कम ही खाना-पीना चाहिए। जैसे कड़ाही में मात्रा से कम दूध आदि ओंटाया या रांधा जाता है तो वह उसके भीतर ही उबलता पकता रहता है पर बाहर नहीं आता। किन्तु जब कड़ाही में भर-पूर दूध या अन्य कोई पदार्थ भर कर ओंटाया या पकाया जाता है तब उसमें उबाल आकर कड़ाही से बाहर निकल जाता है और कभी तो वह चूल्हे की आग तक को बुझा देता है। कदाचित् साधु के अधिक मात्रा में आहार-पान हो जाय और रात में या प्रातः, सांयकाल में उगाल आ जाय तो उसे सूत्रोक्त विधि के अनुसार वस्त्र आदि से मुख को शुद्ध कर लेना चाहिए। जो उस उगाल आये भक्त-पान को वापस निगल जाता है वह सूत्रोक्त प्रायश्चित्त का भागी होता है।

आहार विधि प्रकृतम्

सूत्र ११

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स
अंतो पडिग्गहंसि पाणाणि वा बीयाणि वा, रए वा परियावज्जेज्जा
तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा
तं पुव्वामेव लाइया विसोहिया विसोहिया
तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा पिएज्ज वा;
तं च नो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहित्तए वा
तं नो अप्पणा भुंजेज्जा,
नो अन्नेसिं दावए,
एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता—
परिट्ठवेयव्वे सिया ॥११॥

आहारविधि प्रकरण

निर्ग्रन्थ आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और उसे पात्र में द्वीन्द्रियादि प्राणी बीज या सचित्त रज गिरी हुई दिखाई दे तो जहाँ तक उनका निकालना या शोधन करना सम्भव हो निकाले या शोधन करे।

यदि उनका निकालना या शोधन करना सम्भव न हो तो उस आहार को न स्वयं खावे और न दूसरे को दे किन्तु एकान्त अचित्त पृथ्वी का प्रतिलेखन या प्रमार्जन कर उस पर परठ (डाल) दे।

विशेषार्थ—गोचरी के लिए (गृहस्थ के घर) गये हुए साधु या साध्वी को सर्वप्रथम आहार देने वाले व्यक्ति के हाथ में लिए हुए अन्नपिंड का निरीक्षण करना चाहिए कि यह शुद्ध है, या नहीं? जीवादि तो उसमें जीवित या मृत नहीं है? यदि शुद्ध एवं जीव असंसृष्ट दिखे तो ग्रहण करे, अन्यथा नहीं। देख कर या शोध कर यतना से ग्रहण करते हुए उक्त अन्न-पिंड के पात्र में वहरा दिये जाने पर पुनः देखना चाहिए कि पात्र में अन्नपिंड वहराते हुए कोई मक्खी आदि तो नहीं दब गई है, या ऊपर से आकर तो नहीं बैठ गई है, या अन्य कीड़ी आदि तो नहीं चढ़ गई है। यदि साधु या साध्वी इस प्रकार सावधानीपूर्वक निरीक्षण न करे तो लघुमास के प्रायश्चित्त का पात्र होता है। कदाचित् गृहस्थ के द्वारा आहार वहराते हुए साधु का उपयोग अन्यत्र हो और गृहस्थ के घर से निकलते ही उसका ध्यान आहार की ओर जावे कि मैं पात्र में लेते समय जीवादि का निरीक्षण नहीं कर पाया हूँ तो सात कदम जावे जितने समय के भीतर ही किसी स्थान पर खड़े होकर उसका निरीक्षण करना चाहिए। यदि उपाश्रय समीप हो तो वहाँ जाकर निरीक्षण करना चाहिए और निरीक्षण करने पर यदि त्रस प्राणी चलते फिरते दीखें तो उन्हें यतना से एक-एक करके बाहिर निकाल देना चाहिए। यदि उनका निकालना अशक्य हो, या मृत जीव भक्त-संसृष्ट दीखे या सचित्त बीजादि दीखे, या सचित्त-पत्रादि से मिश्रित आहार दीखे तो उसे एकान्त निर्जीव भूमि पर परठ देना चाहिए। भाष्यकार ने यह भी लिखा है कि परठते समय साधु इस बात का भी ध्यान रखे कि जिस श्रावक के यहाँ से आहार लाये है वह देख तो नहीं रहा है उसकी आँखों से ओझल होकर ही परठना चाहिए। अन्यथा वह निन्दा करेगा कि देखो ये साधु कैसे उन्मत्त हैं जो ऐसे दुर्लभ आहार को ग्रहण करके भी फैंक देते है।

पानक विधि प्रकृतम्

सूत्र १२

निग्गंथस्स य गाहावइकुलं पिण्डवाय पडियाए
अणुप्पविट्ठस्स —
अंतो पडिग्गहंसि—दए वा, दगरए वा, दगफुसिए वा परियावज्जेज्जा
से य उसिणे भोयणजाए परिभोतव्वेसिया,
से य सीए भोयणजाए
तं नो अप्पणा भुंजेज्जा
नो अन्नेसिं दावए
एगंते बहुफासुए पएसे पडिलेहित्ता पमज्जित्ता
परिट्ठवेयव्वे सिया ॥१२॥

पानक विधि प्रकरण

निर्ग्रन्थ आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और उसके पात्र में यदि (पूर्वगृहीत) उष्ण आहार हो और उस पर पानी, पानी के कण या पानी के विन्दु गिर जावे तो भी वह उस आहार का परिभोग कर लें।

यदि पात्र में (पूर्वगृहीत) शीतल आहार हो और उस पर पानी, पानी के कण या पानी के विन्दु गिर जावे तो उस आहार का न स्वयं परिभोग करे, न अन्य निर्ग्रन्थ को देवे किन्तु एकान्त अचित्त पृथ्वी का प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन कर उस पर परठ (डाल) दे।

(यह विधान निर्ग्रन्थी के लिए भी है।)

विशेषार्थ—जिस प्रकार पूर्व के सूत्र में आहार को ग्रहण करते समय दी जाने वाली वस्तु के शुद्ध-अशुद्ध जानने की विधि वतलायी गई हैं—उसी प्रकार पानक को लेते समय भी निरीक्षण करना चाहिए। जलादि पेय वस्तु सचित है, या अचित ? इस बात को देने वाले से पूछकर जान लेना चाहिए। फिर भी असावधानी से कोई अचित्त पानक के स्थान पर सचित्त पानक दे सकता है, अथवा अनुकम्पा बुद्धि से भी दे सकता है व 'ग्रीष्मकाल है ये साधु प्यास से पीड़ित होंगे, अतः तृषा-शान्ति के लिए मैं इन्हें शीतल जल दूँ।' अथवा कोई अन्य मत वाले भिक्षुओं की उपासिका हो और वह निर्ग्रन्थ साधु का व्रत भंग करने की भावना से सचित्त जल पात्र में वहरा देवे। ऐसी अवस्था में भाष्यकार लिखते हैं कि उक्त तीनों कारणों में अचित्त पानक के स्थान पर

पर सचित्त को वहराया हुआ जाने तो "यह मुझे नहीं कल्पता है", ऐसा कह-कर देने वाले के पात्र में ही तुरन्त डाल देना चाहिए। यदि वह अपने पात्र में वापस नहीं डालने देवे तो उससे पूछे कि "यह जल तुम किस कूप-सरोवर आदि से लाये हो।" वह जिस जलाशय का बतावे उसी में विधि पूर्वक परठ देना चाहिए। यदि वह न बतावे या वह जलाशय दूर हो तो पात्र-सहित ही उस जल को किसी वटवृक्ष आदि क्षीर द्रुम की छाया में रख देना चाहिए। यदि साधु के पास पानक लेने के लिए अन्य पात्र न हो तो जिससे जल न झरे और जल से आर्द्र हो ऐसे किसी मिट्टी के पात्र में क्षीरी वृक्ष की छाया में परठ देना चाहिए। किन्तु उस सचित जल को साधु किसी भी दशा में न स्वयं उपभोग में ले और न दूसरों को उपयोग के लिए ही देवे। यहाँ यह भी विशेष ज्ञातव्य है कि अन्न-पिण्ड के समान पानक द्रव्य भी चार प्रकार का होता है। १. शीतोदक (सचित्त जलकाय), २. उष्णोदक (अग्निकाय), ३. नारियल आदि का (वनस्पतिकाय) और दूध दही आदि (त्रसकाय)। इन चारों प्रकार के पानकों में से ऊपर शीतोदक के लेने परठने की विधि कही गई है। शेष तीन प्रकार के पानक के विषय में भी भाष्यकार ने विस्तार से विवेचन किया है उसे वहीं से जानना चाहिए।

ब्रह्मरक्षा प्रकृतम्

सूत्र १३

निग्गंथीए राओ वा वियाले वा
उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा
अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा
अन्नयरं इंदियजायं परामुसेज्जा,
तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा
हत्थकम्म-पडिसेवणपत्ता आवज्जइ मासियं अणुग्घाइयं ॥१३॥

ब्रह्म-रक्षा प्रकरण

यदि कोई निर्ग्रन्थी रात्रि में या विकाल (सन्ध्या) में मल-मूत्र का परि-त्याग करे या शुद्धि करे उस समय किसी पशु या पक्षी से निर्ग्रन्थी की किसी एक इन्द्रिय का स्पर्श हो जाय और उस स्पर्श का वह (यह सुखद स्पर्श है) इस प्रकार अनुमोदन करे तो उसे हस्तकर्म दोष लगता है—अतः (वह) अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

सूत्र १४

निग्गंथीए राओ वा वियाले वा
उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा
अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा
अन्नयरंसि सोयंसि ओगाहेज्जा
तं च निग्गंथी साइज्जेज्जा,
मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं
अणुग्घाइयं ॥१४॥

यदि कोई निर्ग्रन्थी रात्रि में या विकाल (सन्ध्या) में मल-मूत्र का परित्याग करे या शुद्धि करे उस समय कोई पशु पक्षी निर्ग्रन्थी के किसी श्रोत (छिद्र) का अवगाहन करे और उस अवगाहन का (यह अवगाहन सुखद है) इस प्रकार अनुमोदन करे तो (मैथुन सेवन नहीं करने पर भी) उसे मैथुम सेवन का दोष लगता है—अतः (वह) अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

विशेषार्थ—ये दोनों सूत्र ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए कहे गये हैं यदि कोई साध्वी रात्रि या सन्ध्या के समय मल-मूत्र परित्याग कर रही हो और उस समय कोई वानर, हरिण, श्वान आदि पशु, या मयूर, हंस आदि पक्षी अकस्मात् आकर साध्वी के हाथ पैर आदि किसी अंग का स्पर्श करे और साध्वी उसे मन में सुखद या सुन्दर अनुभव करे तो वह हस्तमैथुन प्रतिसेवना की पात्र होती है और उसे इस प्रायश्चित्त में गुरु मासिक तप बतलाया गया है। यदि उक्त पशु या पक्षियों में से किसी के अंग उस साध्वी के गुह्य प्रदेश में प्रविष्ट हो जाय वे साध्वी का आलिंगनादि करे उससे वह रति-सुख का अनुभव करे तो वह मैथुन-प्रतिसेवना की पात्र होती है और उसकी शुद्धि के लिए गुरु चातुर्मासिक तप का विधान किया गया है। भाष्यकार लिखते हैं कि जहाँ पर वानरादि पशुओं का मयूरादि पक्षियों का संचार अधिक हो ऐसे स्थान पर साध्वियों को अकेले मल-मूत्र परित्याग के लिए जाना ही नहीं चाहिए। यदि जाना भी पड़े तो दण्ड को हाथ में लिए हुए किसी दूसरी साध्वी के साथ जाना चाहिए जिससे उन पशु-पक्षियों के समीप आने पर उनका निवारण किया जा सके। दिन में भी साध्वियों को मल-मूत्र परित्याग के लिए अकेला जाना निषिद्ध है। जहाँ पर उक्त प्रकार के पशु-पक्षियों का बाहुल्य हो

तो दण्ड हाथ में लेकर जाना चाहिए। यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है कि उक्त प्रतिसेवना के प्रायश्चित्त में साध्वियों के लिए परिहार स्थान नहीं कहा है क्योंकि उनके लिए परिहार तप का विधान नहीं है।

सूत्र १५ : नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए होत्तए ॥१५॥

निग्रन्थी को अकेली रहना नहीं कल्पता है।

सूत्र १६

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए
गाहावइकुलं पिण्डवाय पडियाए
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥१६॥

अकेली निर्ग्रन्थी को आहार के लिए गृहस्थ के घर में आना जाना नहीं कल्पता है।

सूत्र १७

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए
बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा
निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥१७॥

अकेली निर्ग्रन्थी को शौच के लिए गाँव के बाहर उच्चार-प्रश्रवण भूमि में तथा स्वाध्याय के लिए स्वाध्याय भूमि में जाना आना नहीं कल्पता है।

सूत्र १८

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए—गामाणुगामं दूइज्जित्तए वा
वासावासं वा वत्थए ॥१८॥

अकेली निर्ग्रन्थी को एक गाँव से दूसरे गांव जाना तथा वर्षावास करना नहीं कल्पता है।

सूत्र १९ : नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलियाए होत्तए ॥१९॥

निर्ग्रन्थी को वस्त्ररहित (नग्न) होना नहीं कल्पता है।

सूत्र २० : नो कप्पइ निग्गंथीए अपाइयाए होत्तए ॥२०॥

निर्ग्रन्थी को पात्र रहित (कर पात्र) होना नहीं कल्पता है।

सूत्र २१ : नो कप्पइ निग्गंथीए वोसट्ठकाइयाए होत्तए ।।२१।।

निर्ग्रन्थी को वस्त्ररहित होकर कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—निर्ग्रन्थी को किसी स्थान पर अकेले रहना या अकेले कहीं आना जाना योग्य नहीं हैं, क्योंकि स्त्री को अकेले देखकर दुराचारी मनुष्य के आक्रमण और बलात्कार की सम्भावना रहती है। इसी कारण गोचरी के लिए उसे किसी गृहस्थ के घर में भी नहीं जाना-आना चाहिए।

मल परित्याग के लिए बाहिर जाने के स्थान को विचार भूमि कहते हैं और स्वाध्याय भूमि या साधुओं के उपाश्रय आदि में जाने को विहार भूमि कहते हैं। इन भूमियों पर अकेले जाना, ग्रामानुग्राम विहार करना और अकेले किसी स्थान पर वर्षावास करना भी साध्वी के लिए निषिद्ध हैं।

साध्वी के लिए अचेल होना और जिनकल्पी होना भी निषिद्ध है। भगवत्प्ररूपित धर्म अचेलकत्व है फिर भी स्त्री के लिए लोकापवाद, पर-पुरुषाकर्षण आदि अनेक कारणों से उसे वस्त्ररहित होने का भगवान ने निषेध किया है।

भक्त-पानादि के पात्र नहीं रखने पर आहार-नीहार का करना सम्भव नहीं है।

वस्त्र त्याग कर कायोत्सर्ग करना भी साध्वी के लिए निषिद्ध हैं, क्योंकि उस दशा में काम-प्रेरित तरुण जनों के द्वारा उपसर्गादि की सम्भावना रहती है।

सूत्र २२

नो कप्पइ निग्गंथीए बहियागामस्स वा-जाव-संनिवेसस्स वा
उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय
सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा
आयावणाए आयावेत्तए
कप्पइ से उवस्सयस्स अंतोवगडाए
संघाडियापडिबद्धाए पलंबियबाहुयाए[1]
समयलपाइयाए ठिच्चा
आयावणाए आयावेत्तए ।।२२।।

---

१ बहियाए, बाहाए।

निर्ग्रन्थी को गांव के बाहर यावत्-संनिवेश के बाहर भुजाओं को ऊपर की ओर करके, सूर्य की ओर मुँह करके तथा एक पैर से खड़े होकर (एक पैर को संकुचित करके) आतापना लेना नहीं कल्पता है किन्तु उपाश्रय के अन्दर साड़ी पहने हुए ही भुजाएँ लटकाकर दोनों पैरों को समतल कर तथा खड़े होकर आतापना लेना कल्पता है।

सूत्र २३ : नो कप्पइ निग्गंथीए ठाणाइयाए[1] होत्तए ॥२३॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को स्थानायतिक (दीर्घकाल तक कायोत्सर्ग से खड़ा) होना नहीं कल्पता है।

सूत्र २४ : नो कप्पइ निग्गंथीए पडिमट्ठाइयाए होत्तए ॥२४॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को प्रतिमा-स्थायिनी होना (बारह भिक्षु प्रतिमा धारण करना) नहीं कल्पता है।

सूत्र २५ : नो कप्पइ निग्गंथीए उक्कडियासणियाए होत्तए ॥२५॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को उत्कुटुकासन से अवस्थित होना नहीं कल्पता है।

सूत्र २६ : नो कप्पइ निग्गंथीए निसज्जियाए होत्तए ॥२६॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को (पाँच प्रकार की) निषद्या से बैठना नहीं कल्पता है।

विशेषार्थ—निषद्या पाँच प्रकार की होती है—१. समपादुता—जिसमें दोनों पाद पुत-भाग का स्पर्श करें, २. गो-निषद्यका—गाय के समान बैठना। ३. हस्तिशुण्डिका—दोनों पुतों के बल बैठकर एक पाद हाथी सूँड़ के समान उठाकर बैठना। ४. पर्यंका—पद्मासन से बैठना और ५. अर्धपर्यंका—अर्ध पद्मासन अर्थात् एक पाद के ऊपर दूसरा पाद रखकर बैठना। साध्वियों को इन पाँचों ही प्रकार की निषद्याओं से बैठने का निषेध किया गया है। उन्हें पालती मारकर ही बैठना चाहिए।

सूत्र २७ : नो कप्पइ निग्गंथीए वीरासणियाए होत्तए ॥२७॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को वीरासन से अवस्थित होना नहीं कल्पता है।

सूत्र २८ : नो कप्पइ निग्गंथीए दण्डासणियाए होत्तए ॥२८॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को दण्डासन से अवस्थित होना नहीं कल्पता है।

---

१ ठाणाययाए।

सूत्र २९ : नो कप्पइ निग्गंथीए लगण्डसाइयाए होत्तए ॥२९॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को लकुटासन से अवस्थित होना नहीं कल्पता है ।

सूत्र ३० : नो कप्पइ निग्गंथीए ओमंथियाए होत्तए ॥३०॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को अवाङ्मुखी (अधोमुखी) होकर अवस्थित होना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३१ : नो कप्पइ निग्गंथीए उत्तासणियाए होत्तए ॥३१॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को उत्तरासन से अवस्थित होना नहीं कल्पता है ।

सूत्र ३२ : नो कप्पइ निग्गंथीए अम्बखुज्जियाए होत्तए ॥३२॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को आम्र-कुब्जिकासन से अवस्थित होना नहीं कल्पता है ।

सूत्र ३३ : नो कप्पइ निग्गंथीए एगपासियाए होत्तए ॥३२॥

निर्ग्रन्थी साध्वी को एक पार्श्व से शयन का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है ।

विशेषार्थ—सिंहासन या कुर्सी पर जैसे दोनों पैर नीचे रखकर बैठा जाता है, उस सिंहासन या कुर्सी के हटा लेने पर जैसा आकार होता है उस प्रकार के आकार से निरालम्ब अवस्थित रहने को वीरासन कहते हैं ।

डंडे के समान पैर पसार कर बैठने को दण्डासन कहते हैं ।

एक पैर पसारकर और एक पैर सिकोड़कर बैठने को लकुटासन कहते हैं । अथवा एक हाथ पर मस्तक रखकर तकिये के सहारे के समान बैठने को लकुटासन कहते हैं ।

नीचे की ओर मुख करके (औंधा होकर) बैठना या सोना अवाङ्मुखासन या अवाङ्मुखशयना कहलाता है ।

ऊपर की ओर मुख करके बैठना उत्तानासन कहलाता है ।

आम्र फल के समान कुबडी बनकर बैठना अर्थात् जिसमें मस्तक और दोनों पाद भूमि को स्पर्श करें और शरीर का मध्य भाग ऊपर की ओर रहे, उसे आम्रकुब्जिकासन कहते हैं ।

उक्त सभी आसनों से बैठना साध्वी के लिए निषिद्ध है। तथा एक पार्श्व से लेटने का अभिग्रह करके लेटने का भी निषेध है।

सूत्र ३४

नो कप्पइ निग्गंथीणं आकुंचणपट्टगं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥३४॥

निर्ग्रन्थी-साध्विओं को आंकुचन पट्टक (पर्यस्तिका वस्त्र) रखना या पहिरना नहीं कल्पता है।

सूत्र ३५

कप्पइ निग्गंथाणं आकुंचणपट्टगं वा धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥३५॥

किन्तु निर्ग्रन्थ साधुओं को आंकुचन पट्टक रखना या पहिरना कल्पता है।

विशेषार्थ - चार अंगुल चौड़ी गुप्तांग को ढांकने के लिए जो पट्टी बांधी जाती है उसे "आंकुंचन पट्टक" कहते हैं। वह साध्वी के लिए नहीं कल्पता है।

सूत्र ३६-३७

नो कप्पइ निग्गंथीणं सावस्सयंसि आसणंसि
आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ॥३६॥

कप्पइ निग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणंसि
आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ॥३७॥

निर्ग्रन्थी-साध्वियों को सावश्रय आसन पर खड़े होना या बैठना नहीं कल्पता है। किन्तु निर्ग्रन्थ साधुओं को सावश्रय आसन पर खड़े होना या बैठना कल्पता है।

विशेषार्थ—जिसके पीछे सहारा लेने के लिए लकड़ी आदि का तकिया लगा हो ऐसे कुर्सी आदि को सावश्रय या सावष्टम्भ आसन कहते हैं। उस पर खड़े होना या बैठना साध्वियों के लिए योग्य नहीं है। हाँ, साधु खड़ा हो सकता है।

सूत्र ३८-३९

नो कप्पइ निग्गंथीणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा
आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ॥३८॥

कप्पइ निग्गंथाणं सविसाणंसि पीढंसि वा फलगंसि वा
आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ॥३९॥

निर्ग्रन्थी-साध्वियों को सविषाण पीठ (बैठने का काष्ट चौकी आदि) (सोने का पाटा आदि) या फलक पर खड़े होना, या बैठना नहीं कल्पता है। किन्तु निर्ग्रन्थ साधुओं को सविषाण पीठ पर या फलक पर खड़े होना या बैठना कल्पता है।

विशेषार्थ—सींग जैसे ऊँचे उठे हुए पीठ या फलक पर बैठने से योनि-क्षोभ की संभावना रहती है।

सूत्र ४०-४१

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेण्टयं लाउयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥४०॥

कप्पइ निग्गंथाणं सवेण्टयं लाउयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥४१॥

निर्ग्रन्थी-साध्वियों को सवृन्त (डन्ठल-सहित) अलाबु (तुम्बी) रखना या उपयोग करना नहीं कल्पता है। किन्तु निर्ग्रन्थ साधुओं को सवृन्त अलाबु रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—तुम्बी के ऊँचे उठे हुए डन्ठल को देखने से भी कदाचित साध्वी के मन में विकार पैदा हो सकता है अतः डन्ठल युक्त तुम्बी के रखने का निषेध किया गया है।

सूत्र ४२-४३

नो कप्पइ निग्गंथीणं सवेण्टयं पायकेसरियं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥४२॥

कप्पइ निग्गंथाणं सवेण्टयं पायकेसरियं
धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥४३॥

निर्ग्रन्थी साध्वियों को सवृन्त पात्रकेसरिका रखना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है। किन्तु निर्ग्रन्थ साधुओं को सवृन्त पात्रकेसरिका रखना या उसका उपयोग करना कल्पता है।

विशेषार्थ—तुम्बी प्रमाण लकड़ी के एक सिरे पर वस्त्र खण्ड को बाँधकर पात्र आदि के भीतरी भाग के पोंछने वाले उपकरण को 'पात्र केसरिका' कहते हैं।

सूत्र ४४-४५

नो कप्पइ निग्गंथीणं दारुदण्डयं पायपुंछणं
धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥४४॥

कप्पइ निग्गंथाणं दारुदण्डयं पायपुंछणं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥४५॥

निर्ग्रन्थी-साध्वियों को दारु दण्ड (काष्ठ डन्डी वाला) पाद प्रोञ्छन रखना या उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है। किन्तु निर्ग्रन्थ-साधुओं को दारु दण्ड वाला 'पाद प्रोंछन' रखना कल्पता है।

मोक प्रकृतम्

सूत्र ४६

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
अन्नमन्नस्स मोयं आपिवित्तए वा आयमित्तए वा
नन्नत्थ गाढाऽगाढेसु रोगायंकेसु ॥४६॥

मोक प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को एक दूसरे का मूत्र पीना या मूत्र से एक दूसरे की शुद्धि करना नहीं कल्पता है केवल उग्र रोग एवं आतङ्कों में कल्पता है।

विशेषार्थ—यद्यपि मूत्र-पान अनुपसेव्य है तथापि रक्त विकार, कोढ़ आदि कष्ट-साध्य रोगों के हो जाने पर और सर्प-डंश और तत्काल या शीघ्र प्राण-हरण करने वाले आतङ्क होने पर साधु और साध्वियों को वैद्य द्वारा वतलाये जाने पर मूत्र को पीने की और मुख-शोथ आदि के हो जाने पर उसके द्वारा कुल्ला करने की छूट प्रस्तुत सूत्र में दी गई हैं।

अनेक रोगों में गो, अजा (बकरी) आदि का, तथा अनेक रोगों में स्वयं अपने मूत्र-पान का विधान चिकित्सा शास्त्र में बताया गया है।

परिवासित प्रकृतम्

सूत्र ४७

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पारियासियस्स आहारस्स
तयप्पमाणमेत्तमवि भूइप्पमाणमेत्तमवि
तोयबिंदुप्पमाणमेत्तमवि आहारमाहारेत्तए,
नन्नत्थ गाढाऽगाढेसु रोगायंकेसु ॥४७॥

परिवासित प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को परिवासित (रात्रि में रखा हुआ या कालातिक्रान्त) आहार त्वक् प्रमाण (तिल-तुप जितना) भूति-प्रमाण (एक चुटकी जितना) खाना तथा पानी बिन्दु प्रमाण जितना भी पीना नहीं कल्पता है—केवल उग्र रोग एवं आतंक में (परिवासित आहार-पानी लेना) कल्पना है।

सूत्र ४८

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पारियासिएणं आलेवणजाएणं
गायाइं आलिंपित्तए वा विलिंपित्तए वा,
नन्नत्थ आगाढेहिं रोगायंकेहिं ।।४८

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अपने शरीर पर सभी प्रकार के परिवासित लेपन लगाना नहीं कल्पता है—केवल उग्र रोग एवं आतङ्कों में लगाना कल्पता है।

विशेषार्थ—चन्दन, कायफल, सोंठ आदि द्रव्य लेपन योग्य होते हैं। शिला पर घिसकर या पीसकर इनका लेपन तैयार किया जाता है।

आलेपन—एक वार लेपन करना।

विलेपन—वार-वार लेपन करना।

अथवा **आलेपन**—शरीर में जलन आदि होने पर सर्वांग में लेप करना।

विलेपन—मस्तक आदि विशिष्ट अंग पर लेप करना।

निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियाँ सौन्दर्य वृद्धि के लिए किसी प्रकार के आलेपन विलेपन का प्रयोग न करें।

केवल रोगादि की शान्ति के लिए लेप्य पदार्थों का प्रयोग कर सकते हैं।

सूत्र ४९

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
पारियासिएणं तेल्लेण वा घएण वा
नवनीएण वा वसाए वा
गायाइं अब्भङ्गित्तए वा, मक्खित्तए वा;
नन्नत्थ गाढाऽगाढेहिं रोगायंकेहिं ।।४९।।

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अपने शरीर पर परिवासित तेल-घृत-नवनीत और वसा (चर्बी) का चुपड़ना या मलना नहीं कल्पता है केवल उग्र रोग या आतङ्कों में कल्पता है।

सूत्र ५०

नो[1] कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा
परिवासिएणं कक्केणं वा, लोद्धेण वा
पधूवेण वा, अन्नयरेणं वा आलेवणजाएणं
गायाइं उव्वलेत्तए वा उव्वट्टेत्तए वा
नन्नत्थ गाढाऽगाढेहिं रोगायंकेहिं ॥५०॥

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को अपने शरीर पर परिवासित कल्क, लोध या धूप आदि का विलेपन करना या उवटना नहीं कल्पता है केवल उग्र रोग या आतङ्कों में कल्पता है।

विशेषार्थ—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों को खाने पीने योग्य और लेपन मर्दन, उवटन करने योग्य पदार्थों का संचय करना तथा रात्रि में उक्त पदार्थों का लाना परिवासित रखना एवं उनका उपयोग करना उत्सर्ग मार्ग में सर्वथा निषिद्ध है और इन कार्यों के लिए प्रायश्चित्त का विधान भी है। क्योंकि पूर्वोक्त कार्यों के करने से संयम विराधना एवं आत्मविराधना होती है। भाष्य में इस विषय का विस्तृत वर्णन है।

उग्र रोग या आतङ्क होने पर पूर्वोक्त अत्यन्त आवश्यक पदार्थों के संचय करने का तथा रात्रि में परिवासित रखने का एवं उनके उपयोग करने का अपवाद मार्ग में विधान भी हैं।

गीतार्थ यदि यह जान लें कि निकट भविष्य में उग्र रोग या आतङ्क होने वाला है, महामारी या सेनाओं के आतङ्क से गाँव खाली हो रहा है, स्थविर रुग्ण है, चलने में असमर्थ है, आवश्यक औषधियाँ आस-पास के गाँवों में न मिलने के कारण दूर गाँवों से लाई गई है। इत्यादि कारणों से उक्त पदार्थों का संचय कर सकते हैं, रात्रि में परिवासित रख सकते हैं, एवं उनका उपयोग कर सकते हैं।

---

१ सूत्रमिदं सभाष्य पुस्तके नास्ति।

व्यवहार प्रकृतम्

सूत्र ५१

परिहारकप्पट्ठिए णं भिक्खू
वहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा,
से य आहच्च अइक्कमेज्जा,
तं च थेरा जाणिज्जा
अप्पणो आगमेणं, अन्नेसिं वा अंतिए सोच्चा,
तओ पच्छा तस्स अहालहुसए नाम ववहारे
पट्ठवियव्वे सिया ॥५१॥

व्यवहार प्रकरण

परिहारकल्प स्थित निर्ग्रन्थ भिक्षु यदि वैयावृत्य के लिए कहीं वाहर जावें और वहाँ परिहार तप खण्डित हो जावें—यह वृत्त स्थविर अपने ज्ञान से या अन्य से सुनकर जान लें तो उसे अल्प प्रायश्चित्त देना चाहिए।

विशेषार्थ—इस सूत्र में "वैयावृत्य" पद उपलक्षण है अतः अन्य आवश्यक कार्य भी इसमें समाविष्ट कर लिए जाते हैं।

आचार्य या गण प्रमुख आदि परिहार तप वाले को वैयावृत्य के लिए या अन्य दर्शन के वादियों के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए कहीं अन्यत्र भेजें या वह स्वयं अनिवार्य कारणों से कहीं अन्यत्र जावे और वहाँ उसका परिहार तप खण्डित होने की वात आचार्यादि स्वयं अपने ज्ञान वल से जान लें तो उसे वे (आचार्यादि) लघु (नाममात्र का) प्रायश्चित्त दें, क्योंकि उसका परिहार तप वैयावृत्य या शास्त्रार्थ आदि विशेष कारणों से खण्डित हुआ है। उपेक्षा या प्रमाद वश नहीं हुआ है।

पुलाकभक्त प्रकृतम्

सूत्र ५२

निग्गंथीए य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए
अन्नयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य संथरेज्जा,
कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठेणं पज्जोसवेत्तए,
नो से कप्पइ दोच्चंपि गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए

सा य नो संथरेज्जा

एवं से कप्पइ दोच्चंपि गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए पविसित्तए वा ।

त्ति बेमि ॥५२॥

पुलाक भक्त प्रकरण

निर्ग्रन्थी आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करे और वहाँ वह किसी एक प्रकार का पुलाक भक्त (असार आहार) ग्रहण करे—

यदि उस गृहीत आहार मे उस (निर्ग्रन्थी) का निर्वाह हो जाय तो वह उसी आहार से अहोरात्र बिताये किन्तु उसे दूसरी बार आहार के लिए गृहस्थ के घर में प्रवेश करना नहीं कल्पता है।

यदि उस गृहीत आहार से उस (निर्ग्रन्थी) का निर्वाह न हो तो उसे आहार के लिए गृहस्थ के घर में दूसरी बार जाना कल्पता है। ऐसा मैं कहता हूँ।

विशेषार्थ—पुलाक का सामान्य अर्थ है असार पदार्थ, पर यहाँ कुछ विशिष्ट अर्थ इष्ट है।

जिनके सेवन से संयम या प्रवचन श्रवण निःसार हो जाय अथवा प्रवचन संघ और धर्म की निन्दा हो वे सब पदार्थ या वैसे आचरण पुलाक कहे जाते हैं।

पुलाक तीन प्रकार के होते हैं।

१. धान्य पुलाक, २. गन्ध पुलाक, और ३. रस पुलाक।

१. जिन धान्यों के खाने से बल-वीर्य आदि की वृद्धि न हो ऐसे सांवा, शाली, वल्ल आदि 'धान्य-पुलाक' कहे जाते हैं।

२. लहसुन प्याज आदि तथा एला लवंग इत्र आदि जिनकी उत्कट गन्ध हो वे सब पदार्थ 'गन्ध पुलाक' कहे जाते हैं।

३. दूध, इमली का रस, द्राक्षा रस आदि 'रस-पुलाक' कहे जाते हैं।

गन्ध-पुलाक का अकारण ग्रहण करना भी सर्वथा निषिद्ध है।

इस सूत्र में 'पुलाग भत्ते' शब्द है। उसमें भत्ते भक्त शब्द से केवल 'धान्य-पुलाक' ग्रहण किया गया है। अतः अन्य पुलाक ग्रहण करने का निषेध समझना चाहिए।

रस पुलाक के सेवन से भी उदरपूर्ति नहीं होती है। अपितु अतिसार हो जाता है।

पुलाक धान्य से निष्पन्न आहार यदि निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी ने ग्रहण कर लिया हो और उससे उस दिन उसका निर्वाह हो सकता हो तो दूसरी बार भिक्षा के लिए न जावें। निर्वाह न हो सके तो जावे।

इस सूत्र में निर्ग्रन्थी के लिए ही विधान किया गया है, निर्ग्रन्थ के लिए क्यों नहीं ?

इसका उत्तर भाष्यकार ने इस प्रकार दिया है। **'एसेव गमो नियमा तिविह पुलागम्मि होई समणाणं'** जो विधि निर्ग्रन्थी के लिए है वही निर्ग्रन्थ के लिए भी है।

पंचमो उद्देसओ समत्तो

पंचम उद्देसक समाप्त

छट्ठो उद्देसओ

वचन प्रकृतम्

सूत्र १

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा

इमाइं छ अवयणाइं[1] वइत्तए, तं जहा—

१. अलियवयणे २. हीलियवयणे

३. खिसियवयणे ४. फरुसवयणे

५. गारत्थियवयणे ६. विओसवियं वा पुणो उदीरित्तए ॥१॥

वचन प्रकरण

निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों को ये छह कुवचन बोलना नहीं कल्पता है।

यथा—१. अलीकवचन, २. हीलितवचन, ३. खिसितवचन, ४. परुष वचन, ५. गार्हस्थ्यवचन, ६. व्युपशमित वचन पुनः कहना।

विशेषार्थ—असत्य या मिथ्या भाषण को अलीकवचन कहते हैं।

दूसरे की अवहेलना करने वाले वचनों को हीलितवचन कहते हैं।

रोष पूर्ण कहे जाने वाले वचनों को खिसित वचन कहते हैं।

कर्कश, रुक्ष, कठोर वचनों को परुषवचन कहते हैं।

गृहस्थ अवस्था के सम्बन्धियों को पिता, पुत्र, मामा आदि नामों से पुकारने को गार्हस्थ्यवचन कहते हैं।

किसी के साथ कलह-विसंवाद हो जाने पर क्षमा-याचनादि के द्वारा कलह के उपशान्त हो जाने के पश्चात् भी उसे पुनः कहना व्युपशमित वचन कहलाता है।

साधु और साध्वी को ऐसे छहों प्रकार के वचन नहीं बोलना चाहिए।

---

१ मूलकल्पे अवत्तव्वाइं।

प्रस्तार प्रकृतम्

सूत्र २

कप्पस्स छ पत्थारा पण्णत्ता, तं जहा—

१. पाणाइवायस्स वायं वयमाणे,

२. मुसावायस्स वायं वयमाणे,

३. अदिन्नादाणस्स वायं वयमाणे,

४. अविरइयावायं[1] वयमाणे,

५. अपुरिसवायं वयमाणे,

६. दासवायं वयमाणे

इच्चेए[2] कप्पस्स छ प्पत्थारे पत्थरेत्ता

सम्मं अप्पडिपूरेमाणे तट्ठाण पत्ते सिया ॥२॥

प्रस्तार प्रकरण

कल्प (साध्वाचार) के छह प्रस्तार (प्रायश्चित्त के विशेष प्रकार) कहे गये हैं।

यथा—१ प्राणातिपात का अभियोग उपस्थित किये जाने पर (दिया जाने वाला प्रायश्चित्त विशेष)

२ मृषावाद का अभियोग उपस्थित किये जाने पर

३ अदत्तादान का अभियोग उपस्थित किये जाने पर

४ ब्रह्मचर्य भंग करने का अभियोग उपस्थित किये जाने पर

५ पुरुष न होने का (नपुंसक होने का) अभियोग उपस्थित किये जाने पर

६ दास (या दासिपुत्र) होने का अभियोग उपस्थित किये जाने पर

विशेषार्थ—कल्प शब्द का यहाँ अभिप्रेतार्थ है निर्ग्रन्थ का आचार।

प्रस्तारक शब्द का अर्थ है आचार सम्बन्धी दोषों के प्रायश्चित्त के लिए आचार्यादि से प्रार्थना करने वाला। **प्रथम प्रस्तार**—यदि कोई निर्ग्रन्थ किसी अन्य निर्ग्रन्थ पर प्राणातिपात-वाद अर्थात् हिंसा का अभियोग प्रस्तुत करता है।

यथा—यदि कोई निर्ग्रन्थ किसी एक निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध में आचार्यादि के सम्मुख उपस्थित होकर कहे कि **"अमुक निर्ग्रन्थ से अमुक त्रस जीव की घात हुई है।"**

---

१ स्थानांग ६, सू० ५२८ अविरइवायं।

२ मुद्रित सभाष्ये छ कप्पस्स पत्थारे।

आचार्यादि उसका कथन सुनकर अभियोग से सम्बन्धित निर्ग्रन्थ को बुलावे और उससे पूछे कि "क्या तुम से त्रस जीव की घात हुई है ?

यदि वह कहे कि "मेरे से किसी प्रकार के त्रस जीव की घात नहीं हुई है।" ऐसी दशा में उक्त अभियोग लगाने वाले निर्ग्रन्थ को अपना कथन प्रमाणित करने के लिए कहे।

यदि अभियोक्ता अभियोग प्रमाणित कर दे तो जिस पर जीवघात का अभियोग लगाया है वह दोषानुरूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

यदि अभियोक्ता अभियोग प्रमाणित न कर सके तो वह प्राणातिपात किये जाने पर दिये जाने वाले प्रायश्चित्त का भागी होता है। इसीप्रकार द्वितीय प्रस्तार मृषावाद, तृतीय प्रस्तार अदत्तादान और चतुर्थ प्रस्तार अविरतिवाद-ब्रह्मचर्य भंग के अभियोग के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए।

दीक्षा देने वाले आचार्यादि के सामने किसी निर्ग्रन्थ के नपुंसक होने का अभियोग लगाना पंचम प्रस्तार अपुरुषवाद है।

किसी निर्ग्रन्थ के सम्बन्ध में "यह दास था, या दासी पुत्र था इस प्रकार का अभियोग लगाना षष्ठ प्रस्तार "दास वाद" है।

अभियोक्ता और दोष-सेवी यदि एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप लगावें या उनमें वाद प्रतिवाद बढ़ जावें तो प्रायश्चित्त की मात्रा भी बढ़ जाती है।

यथा—जिस निर्ग्रन्थ पर अभियोग लगाया है यदि उसका प्रायश्चित्त चतुर्लघुतप है तो अभियोग प्रमाणित नहीं कर सकने वाले के लिए प्रायश्चित्त चतुर्गुरु तप है।

यदि अभियोग चरम सीमा सूचक होता है तो प्रायश्चित्त भी चरम सीमा का ही दिया जाता है। अर्थात् सदोष निर्ग्रन्थ को अन्तिम प्रायश्चित्त पारान्चिक वहन करना पड़ता है। विशेष विवरण के लिए भाष्य देखना चाहिए।

कण्टकाद्युद्धरण प्रकृतम्

सूत्र ३

निग्गंथस्स य अहे पायंसि—
खाणू वा, कंटए वा
हीरए वा, सक्करे वा परियावज्जेज्जा
तं च निग्गंथे नो संचाए नीहरित्तए वा, विसोहेत्तए वा
तं च निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ ॥३॥

कण्टकादि उद्धरण प्रकरण

निर्ग्रन्थ के पैर के तलवे में तीक्ष्ण, शुष्क, ठूंठ, कंटक, तीक्ष्ण काष्ठ या तीक्ष्ण पाषाण खण्ड लग जावें और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थ) निकालने में या उसके अंश को शोधन में समर्थ न हो (उस समय) यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती है।

सूत्र ४

निग्गंथस्स य अच्छिसि
पाणे वा, बीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा,
तं च निग्गंथे नो संचाए
नीहरित्तए वा, विसोहेत्तए वा
तं च निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ ॥४॥

निर्ग्रन्थ की आँख में (मच्छर आदि सूक्ष्म) प्राणी वीज या रज गिर जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थ) निकालने में या उसके सूक्ष्म अंश को शोधन में समर्थ न हो (उस समय) यदि निर्ग्रन्थी निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती है।

सूत्र ५

निग्गंथीए य अहे पायंसि
खाणू वा, कंटए वा
हीरए वा, सक्करे वा,
परियावज्जेज्जा,
तं च निग्गंथी नो संचाए
नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा,
तं च निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहमाणे वा नाइक्कमइ ॥५॥

निर्ग्रन्थी के पैर के तलवे में तीक्ष्ण शुष्क, ठूंठ, कंटक, तीक्ष्ण काष्ठ या पाषाण खण्ड लग जावे और उसे वह (या अन्य निर्ग्रन्थी) निकालने में या उनके सूक्ष्म अंश को शोधने में समर्थ न हो (उस समय) यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

सूत्र ६

निग्गंथीए य अच्छिसि
पाणे वा, वीये वा, रए वा परियावज्जेज्जा,
तं च निग्गंथी नो संचाए
नीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा
तं च निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ॥६॥

निर्ग्रन्थी की आँख में (मच्छर आदि सूक्ष्म) प्राणी, वीज या रस गिर जावे और उसे वह (या अन्य कोई निर्ग्रन्थी) निकालने में या उसके सूक्ष्म अंश को शोधन में समर्थ न हो (उस समय) यदि निर्ग्रन्थ निकाले या शोधे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

विशेषार्थ—निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थी के शरीर का और निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ के शरीर का स्पर्श न करे यह उत्सर्ग मार्ग है। किन्तु कंटक आदि लग जाने पर और अन्य किसी के द्वारा नहीं निकाले जा सकने पर कण्टकादि निकालने में कुशल निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी अपवाद मार्ग में एक दूसरे के कण्टकादि निकाल सकते हैं। ऐसी स्थिति में एक दूसरे के शरीर का स्पर्श होने पर भी वे प्रायश्चित्त के पात्र नहीं हैं।

दुर्गप्रकृत्

सूत्र ७

निग्गंथे निग्गंथिं
दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा
पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा
गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा नाइक्कमइ ॥७॥

दुर्गप्रकरण

दुर्ग (वृक्ष श्वापदादि से व्याप्त विकट भूमि) विषमभूमि या पर्वत से फिसलती हुई या गिरती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

सूत्र ८

निग्गंथे निग्गंथिं
सेयंसि वा पंकंसि वा

पणगंसि वा, उदयंसि वा
ओकसमाणिं वा ओवुड्डमाणिं वा
गेण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥८॥

दल दल, पंक, पनक या जल में गिरती हुई या डूबती हुई निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

नावारोहण प्रकृतम

सूत्र ९

निग्गंथे निग्गंथिं
नावं आरोहमाणिं[1] वा ओरोहमाणिं वा
गेण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥९॥

नावारोहण प्रकरण

नौका पर चढ़ती हुई या नौका से उतरती हुई (वृद्ध रुग्ण या नौका के हिलने पर) निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

क्षिप्तचित्तादिकं प्रकृतम्

सूत्र १०

खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे
गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥१०॥

क्षिप्तचित्तादि प्रकरण

मौन रहने (राग भय या अपमान से) विक्षिप्त चित्त वाली निर्ग्रन्थी को (पानी या अग्नि में गिरती देखकर या अन्य किसी प्रकार की विपद्ग्रस्त स्थिति में देखकर) निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या अवलम्बन दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

सूत्र ११ : एवं दित्तचित्तं ॥११॥

सूत्र १२ : जक्खाइट्ठं ॥१२॥

सूत्र १३ : उम्मायपत्तं ॥१३॥

सूत्र १४ : उवसग्गपत्तं ॥१४॥

---

१ आरुभमाणिं वा ओरुभमाणिं वा।

इसी प्रकार—

१. दिप्त चित्त (प्रलाप करने) वाली (सम्मान या असम्मान तथा दुर्लभ द्रव्यों की प्राप्ति या अप्राप्ति से अशान्त चित्त)

२. यक्षाविष्ट (भूत-प्रेतादि से पीड़ित)

३. उन्माद प्राप्त (पागल)

४. उपसर्ग प्राप्त (देव, मनुष्य या तिर्यञ्चकृत उपसर्ग से भयभीत) निर्ग्रन्थी को गिरते, पड़ते देखकर उसे ग्रहण करने वाला या सहारा देने वाला निर्ग्रन्थ जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

सूत्र १५ : साहिगरणं ॥१५॥

सूत्र १६ : सपायच्छित्तं ॥१६॥

सूत्र १७ : भत्तपाणपडियाइक्खियं ॥१७॥

सूत्र १८

अट्ठजायं निग्गंथिं निग्गंथे
गिण्हेमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥१८॥

इसी प्रकार—

१. साधिकरण—कलह में संलग्न,

२. सप्रायश्चित—कठोर प्रायश्चित्त से चल चित्त,

३. भक्त-पान प्रत्याख्यात—अन्न जल का परित्याग कर संथारा ग्रहण करने वाली,

४. अर्थ जात—शिष्याओं के या गृहवास के कुटम्बीजनों के लिए धन की लोलुप निर्ग्रन्थी को निर्ग्रन्थ ग्रहण करे या सहारा दे तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

विशेषार्थ—निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का उत्सर्ग-मार्ग तो यही है कि वे कभी भी एक दूसरे का स्पर्श न करें। यदि करते हैं तो वे ब्रह्मचर्य भंग के दोष सेवन से जिनाज्ञा का उल्लंघन करते हैं। किन्तु उक्त सूत्रों में कही गई परिस्थितियों में निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियाँ एक दूसरे के सहायक बनकर सेवा शुश्रुषा करें तो जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते हैं।

उन्मत्त पिशाचग्रस्त उपसर्ग-पीड़ित भयग्रस्त निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियाँ एक दूसरे को सहारा देकर गिरते हुए को सम्भालें।

कलह विसंवाद में संलग्न को हाथ पकड़ कर रोकें।

भक्त-प्रत्याख्यान करके समाधिमरण करने वाली निर्ग्रन्थी को अन्य परिचारिका साध्वी के अभाव में सभी प्रकार की परिचर्या का सहयोग देना।

गृहस्थ जीवन के पति-पुत्रादि की अर्थ संकटापन्न दशा से विचलित निर्ग्रन्थी को सान्त्वना देना और उचित अर्थव्यवस्था करना।

परिमन्थ प्रकृतम्

सूत्र १९

कप्पस्स छ पलिमंथू पण्णत्ता, तं जहा—

१. कोक्कुइए संजमस्स पलिमंथू,

२. मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू,

३. तिंतिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू,

४. चक्खुलोलुए ईरियावहियाए पलिमंथू,

५. इच्छालोलुए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू,

६. भिज्जानियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू,

सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था ॥१९॥

परिमन्थ प्रकरण

कल्प के छः परिमन्थ (घातक) कहे गये हैं। यथा—

१. कौत्कुच्य—संयम का घातक है।

२. मौखर्य—सत्य वचन का घातक है।

३. तितिनक—एषणासमिति का घातक है।

४. चक्षुर्लोल्य—इर्यासमिति का घातक है।

५. इच्छालोलुप—मुक्ति मार्ग (अपरिग्रह) का घातक है।

६. भिध्यानिदानकरण—मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन) का घातक है। क्योंकि भगवान ने सर्वत्र अनिदानता प्रशस्त कही है।

कल्पस्थिति प्रकृतम्

सूत्र २०

छव्विहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता, तं जहा—

१. सामाइय-संजय-कप्पट्ठिई,

---

१ भुज्जो भुज्जो नियाणकरणे सिद्धिमग्गस्स।

२. छेओवट्ठावणिय-संजय कप्पट्ठिई,

३. निव्विसमाण कप्पट्ठिई,

४. निव्विट्ठकाइय कप्पट्ठिई,

५. जिणकप्पट्ठिई,

६. थेरकप्पट्ठिई,

त्ति बेमि ॥२०॥

कल्पस्थिति प्रकरण

कल्पस्थिति (निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियों की आचार मर्यादा) छह प्रकार की होती है। यथा—

१. सामायिक संयत कल्पस्थिति—सामायिक चरित्र सम्बन्धी मर्यादा।

२. छेदोपस्थापनीय संयत कल्पस्थिति—यावज्जीवन की सामायिक स्वीकार कराते समय अथवा व्रत भंग होने पर पुनः पंच महाव्रतों के आरोपण रूप चारित्र की मर्यादा।

३. निर्विश्यमान कल्पस्थिति—परिहारविशुद्धि तप स्वीकार करने वाले की आचार मर्यादा।

४. निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति—पारिहारिक तप पूरा करने वाले की आचार मर्यादा।

५. जिनकल्पस्थिति—गच्छ से बाहर होकर तपस्यापूर्वक जीवन बिताने वाली आचार मर्यादा।

६. स्थविरकल्पस्थिति—गच्छ के आचार्य की आचार मर्यादा।

ऐसा मैं कहता हूँ।

विशेषार्थ—यहाँ "कल्प" का अर्थ संयत का आचार है। उसमें अवस्थित रहना कल्पस्थिति कहा जाता है।

निर्ग्रन्थ—निर्ग्रन्थियों की सामाचारी (मर्यादा) को भी कल्पस्थिति कहा जाता है। वह छह प्रकार की कही गई है। यथा—

१. समभाव में रहना और सभी सावद्यप्रवृत्तियों का परित्याग करना पहली सामायिक संयत कल्पस्थिति है—यह दो प्रकार की होती है।

(१) इत्वरकालिक—अर्थात् जब तक पंच महाव्रतों का आरोपण न किया जाय तब तक इत्वर कालिक सामायिक कल्प स्थिति है।

(२) यावज्जीविक अर्थात् जीवनपर्यन्त रहने वाली सामायिक कल्प स्थिति ।

छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति । यह कल्पस्थिति दो प्रकार की होती है ।

पहली निरतिचार छेदापस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति और दूसरी सातिचार छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति ।

इत्वर सामायिक वाले शैक्षकों अथवा चार याम (चार महाव्रत) की परम्परा का परित्याग कर पंच याम (पंच महाव्रत) की परम्परा स्वीकार करने वाले भगवान पार्श्वनाथ के शिष्यों को पंच महाव्रतों की आरोपणा कराना निरतिचार छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति है ।

पंच महाव्रत स्वीकार करने के वाद जो निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थी जानकर किसी एक महाव्रत को यावत् पाँचों महाव्रतों को भंग करे तो उसकी पूर्व दीक्षा पर्याय का छेदन कर पुनः महाव्रतारोपण कराना सातिचार छेदोपस्थापनीय-संयत-कल्पस्थिति है ।

परिहार विशुद्धि संयम की साधना करने वाले साधुओं की समाचारी को निर्विशमान कल्पस्थिति कहते हैं ।

जो साधु संयम की विशुद्धि रूप साधना कर चुके हैं उनकी सामाचारी को निर्विष्ट-कायिक-कल्प स्थिति कहते हैं ।

गच्छ से निकलकर एकाकी दिगम्वर वेष में विचरने वाले पाणिपात्र—भोजी गीतार्थ साधुओं की सामाचारी को जिन-कल्पस्थिति कहते हैं ।

गच्छ के भीतर आचार्यादि की आज्ञा में रहने वाले साधुओं की समाचारी को स्थविर कल्पस्थिति कहते हैं । इसप्रकार तीर्थंकरों ने साधुओं की कल्पस्थिति छह प्रकार की कही है ।

छट्ठो उद्देसओ समत्तो

॥ इइ कप्पसुत्तं ॥

॥ कल्पसूत्र समाप्त ॥

